RNI No. 7127/60
डाक पंजीयन संख्या - Jaipur City / 411 2017-1

संघशक्ति

मासिक समाचार पत्रिका

वर्ष : 56 अंक : 02 कुल पृष्ठ : 36 4 फरवरी, 2019

शुल्क एक प्रति : 15/- वार्षिक : 150/- रुपये पंचवर्षीय 700/- रुपये दस वर्षीय 1300/- रुपये

राव सिहाजी राठौड़

संघशक्ति

4 फरवरी, 2019

वर्ष : 56 अंक-02

-: सम्पादक :-

लक्ष्मणसिंह बेण्यांकाबास

शुल्क – एक प्रति : 15/ रुपये, वार्षिक : 150 रुपये, पंचवर्षीय : 700/- रुपये , दस वर्षीय : 1300 /- रुपये

विषय - सूची

❍ समाचार संक्षेप	✍	04
❍ चलता रहे मेरा संघ	✍ श्री भगवानसिंह रोलसाहबसर	05
❍ पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)	✍ श्री चैनसिंह बैठवास	08
❍ आध्यात्मिक रूपान्तरण	✍ स्वामी यतीश्वरानन्द	10
❍ ऐसी हो सेवा निवृति	✍ श्री निवृत	13
❍ सिहाजी राठौड़	✍ श्री फूलसिंह मेहरासर चाचेरा	15
❍ राजपूती आन-बान-शान की पहचान....	✍ स्वामी श्री गोपालआनन्द बाबा	17
❍ विचार-सरिता (चत्वारिंशत् लहरी)	✍ श्री विचारक	21
❍ कैसे सम्भव है प्रगति	✍ श्री चैनसिंह दूधवा	23
❍ प्रेरक कथानक	✍ संकलित	26
❍ विचारों का महत्त्व	✍ कुँ. श्री मनोहरसिंह अकली	27
❍ मारवाड़	✍ श्री फूलसिंह लूणासर	28
❍ जिज्ञासा का समाधान	✍ संकलित	30
❍ तू क्यों लीली जाळ?	✍ श्री मांगसिंह बिशाला	32
❍ अपनी बात	✍	33

समाचार संक्षेप

पूज्य श्री की जयन्ती :

श्री क्षत्रिय युवक संघ के संस्थापक पू. तनसिंहजी जी का जन्म 25 जनवरी, 1924 को हुआ था। उनकी 95वीं जयन्ती हर्षोल्लास के साथ संघ क्षेत्रों में मनाई गई। 25 जनवरी को वैवाहिक सावे होने से कुछ स्थानों पर 27 जनवरी को तो अधिकांश स्थानों पर 25 जनवरी को मनाई गई।

राजस्थान के बाड़मेर क्षेत्र के एक छोटे से गाँव के निवासी के रूप में उन्होंने जन्म लिया। बचपन में ही पिता का साया न रहा। फिर भी स्वयं की लगन व माता की दूरदर्शिता ने चमत्कार दिखाया। विद्याध्यन के समय से ही सामाजिक संगठन का विचार बलवती बन गया और समाज जागरण के उनके संकल्प ने सामाजिक संगठन का रूप लिया। संकल्प करना व सपना देखना एक बात है पर उसी पर मर मिटना दूसरी बात है। नारों व भाषणों से नहीं बल्कि सद् संस्कारों से समाज जागरण की राह अपनाई। हमें संस्कारमयी कर्म प्रणाली दी, जिसका आधार गीता है। साधना समूह शक्ति में रूपान्तरित होने लगी। आधार भूत विचार आचार में बदलना प्रारम्भ हुआ। एक दीप से दूसरा दीप जलने लगा। सहस्रों दीप जले। सहस्रों को मार्ग दिखाया, प्रकाश दिखाया।

पू. तनसिंहजी अपनी कौम के लिये दीपक बनकर जलते रहे, प्रकाश देते रहे। उनके गीत की पंक्ति है- 'दीपक हूँ कौम का मैं, ज्योति लिये जलूंगा।' अपनों के प्रति इतनी आत्मीयता, इतनी उदारता, इतनी उत्कट निष्ठा तथा संकल्पशक्ति पू. तनसिंहजी के अलावा और किसमें हो सकती है। उनका कहना था-'व्यक्तिवादी विचारधारा सामाजिक संगठन की शत्रु है। समाज व्यक्तियों का जमघट मात्र नहीं है बल्कि वह एक जीवित चेतन शक्ति है। समाज से अलग व्यक्ति का जीवन दूभर है। क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है और व्यक्तियों के बिना समाज अस्तित्व हीन है। व्यक्ति और समाज दोनों इतने अन्योन्याश्रित हैं कि एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। दोनों की मर्यादाएँ विद्वानों ने बाँधी हैं।

'समाज चरित्र की एक ही परिभाषा हो तो यह होगी-सहयोगी और सामूहिक जीवन। इसके अभाव में समाज जीवित समाज नहीं कहा जा सकता। फिर तो वह एक समूह है जो संयोगवश इकट्ठा हो गया है। समाज में काम करने वालों में इस समाज चरित्र की भावना का निर्माण करने के लिये कार्यकर्ता को व्यक्तिवादी अहंकार के संस्कार मिटाकर सहयोगी और सामूहिक जीवन के संस्कार जगाने पड़ेंगे।' इसी मार्ग पर संघ आज एक संगठन मात्र नहीं, एक परिवार का रूप ले चुका है।

सत्य, न्याय, ज्ञान, प्रकाश, क्षमा, नीति, दया, अपरिग्रह इत्यादि पूज्यश्री के जीवन आदर्श थे जिनको उन्होंने पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक या व्यावसायिक, जिस क्षेत्र में भी कार्य किया, अपनाए रखा, जीवन में धारण रखा। जीवन को सार्थक बनाने हेतु हमारे प्रेरक व सम्बल पू. तनसिंहजी का स्मरण जयंती कार्यक्रमों में हुआ।

शिविर :- उत्तरप्रदेश के घाटमपुर, मध्यप्रदेश के कचनारा (नाहरगढ), गुजरात में कामरेज (सूरत), राजस्थान में मेड़ता, सेमारी (उदयपुर), पुष्कर (बालिका), बालोतरा (बालिका), शक्तिधाम (सुरेन्द्रनगर) में गीता सम्बन्धी महिला शिविर, आहोर, बीकानेर, देगराय, फोगेरा और लाडनू में शिविर सम्पन्न हुए। इनमें कुछ प्राथमिक तथा शेष माध्यमिक प्रशिक्षण शिविर थे।

गुजरात प्रवास :- संघ के संचालन प्रमुख श्री लक्ष्मणसिंह 6 से 11 जनवरी तक गुजरात प्रवास पर रहे। अहमदाबाद, गांधीनगर, काणेटी, भावनगर, अवाणिया, सुरेन्द्रनगर, पडुस्मा (मेहसाणा), बबासणा, फतेपुर (पालनपुर), दियोदर, थराद और धानेरा में चिंतन बैठक आयोजित हुई जिसमें संघ की कार्यप्रणाली का विस्तार से परिचय, उद्देश्य व सिद्धान्तों की विवेचना प्रस्तुत की गई। स्थानीय कार्यकर्ताओं के साथ संघ कार्य के विस्तार सम्बन्धी चर्चा की गई।

चलता रहे मेरा संघ

(उच्च प्रशिक्षण शिविर, भारतीय ग्राम्य आलोकान आश्रम बाड़मेर में 15 मई, 2018 को संघप्रमुख श्री भगवानसिंहजी रोलसाहबसर द्वारा शिविरार्थियों हेतु उद्बोधित प्रभात संदेश)

श्री क्षत्रिय युवक संघ के शिविर में हम बहुत सारी जानकारियाँ अर्जित करते हैं। तदनुकूल अपना आचरण बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसके सद् संस्कारों का सृजन करते हैं। संस्कारों का सृजन दो तरह से होता है। एक तो पूर्व जन्मों से साथ लाए गए संस्कार। पता नहीं हम कौन-कौन सी योनि में रहे हैं। हम यह भी मानते हैं कि हम मनुष्य योनि में अनेक जीवन भोग चुके हैं तो उन जन्मों में भी संस्कार सृजित हुए हैं। शरीर छूट जाता है लेकिन सूक्ष्म शरीर के साथ मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, ये नष्ट नहीं होते हैं। पुनर्जन्म का कारण भी यही बनते हैं और ये जीव के साथ जाते हैं। पूर्व जन्म से लाए गये संस्कारों का न हमको मालूम है और जो इस जीवन में संस्कार डालने वाले हैं-हमारे माता-पिता, गुरुजन और यहाँ शिविरों में शिक्षक; न उनको मालूम है। हम जो लेकर आए हैं उसका पता न होने से सामान्यतया उसको बदला नहीं जा सकता। जैसा स्वभाव लेकर आए हैं, जो हम सत, रज, तम के गुण लेकर आए हैं, जैसी प्रवृति पिछले जन्म में रही है, उसका प्रभाव इस जीवन में भी रहता है।

दूसरा संस्कार सृजन इस जीवन में होता है। जीव माँ के गर्भ में आता है, उससे पहले ही उसके संस्कारों का सृजन प्रारम्भ हो जाता है। हमारे माता-पिता जिनके दो बूंदों से हमारा शरीर बना है, उन्होंने क्या खाया, क्या पिया उसका प्रभाव भी हमारे संस्कारों पर पड़ता है। जो अन्न खाते हैं, शरीर में जाकर वह रस उत्पन्न करता है। उस रस के साथ संस्कारों का सृजन चल रहा है। हमारे भोजन से बने रस से फिर रक्त बनता है। सृजन चालू है। उस रक्त से माँस बनता है, चर्बी बनती है, हड्डी बनती है; मज्जा बनता है, ओज बनता है, सृजन चालू है। यह तो माता-पिता की बात है। उन्होंने जो खाया-पिया उससे जो रस-वीर्य बना, उनके मिलन से हमारा जीवन प्रारम्भ होता है। उन्होंने सावधानी नहीं रखी कि हमें भगवान के संकल्प का सहयोगी बनना है। ***एकोऽहम बहुस्याम।*** वो जो खेल खेलना चाहते हैं, जो जीवन क्रीड़ा करना चाहते हैं, उसमें हमारी भागीदारी कितनी है। भगवान की इच्छा के अनुकूल हमने क्या आचरण किया है और क्या नहीं किया है, वह सब माँ के गर्भ में आ गया।

पिता जब माँ के पास आता है, गर्भ का बच्चा अभी दिखाई नहीं दे रहा है लेकिन गर्भ में पलता हुआ बच्चा पिता के हाव-भाव से प्रभावित होता है। पिता जोर से बोलता है, धीमे बोलता है, सद्वचन बोलता है, दुर्वचन बोलता है, उस सबका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है। माता क्या खाती है, क्या पीती है, कमरे में कैसे चित्र हैं, कैसा साहित्य पढती है आदि-आदि भी गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करते हैं। उसकी सासू का व्यवहार कैसा है, ननद का कैसा है, श्वसुर का कैसा है, उनमें कितना तनाव है, उनके व्यवहार में कितनी प्रसन्नता है, इन सबसे भी संस्कार सृजन प्रभावित हो रहा है, हालांकि अभी शिशु बाहर नहीं आया है। माता-पिता के मिलने के समय उनकी मन:स्थिति कैसी थी, यह भी सृजन को प्रभावित करती है। शिशु जब गर्भ से बाहर आ जाता है तब उसके खाने-पीने, उसके प्रति माता-पिता के व्यवहार, परिवार के सदस्यों का उसके प्रति व्यवहार, उनके आचार-विचार भी प्रभावित करते हैं सृजन को। बड़ा लम्बा खेल चलता है।

इस प्रकार सृजित संस्कारों को क्षत्रिय युवक संघ कैसे ठीक करने का प्रयास करता है? आप सभी आगे पिता बनने वाले हैं, आप में नये सृजन की ऊर्जा है, आपको संस्कारित सृजन करने के लिये तैयार करने का प्रयास करता है संघ। वीर्य का संचय हो, ऊर्ध्व-रेता

बनें। अच्छे वातावरण में रहें। पति-पत्नी दोनों का आचरण व मन:स्थिति सद् हो तो भारत का, दुनिया का भविष्य बनेगा। यह लम्बी प्रक्रिया है, उतावले पन से काम होने वाला नहीं है। मनोवैज्ञानिक का कहना है कि मनुष्य अपने सौ वर्ष के जीवनकाल में जितना सीख सकता है, उसका पचास प्रतिशत वह डेढ-दो साल की उम्र में सीख जाता है। वह हमारी आँखों को देखता है, हमारे हाव-भाव को देखता है। माँ के, पिता के, परिवार के लोगों को वह भली प्रकार जान लेता है, क्योंकि वह शुद्ध है, बुद्ध है, सब जानता है। उस समय हमारी एक भी असावधानी उसके संस्कारों में दुर्घटना का कारण बन सकती है।

अब ये सब बातें आपके लिये पुरानी हो गई। आप सब अब यहाँ आए हैं, जहाँ आप एक नये गर्भ में आए हैं। यहाँ आने से पहले का आपका जीवन जो है, उसे पूर्व जीवन मान लें। अब वे जो संस्कार लेकर हम आए हैं, जो स्वभाव लेकर आए हैं, उसको सद् संस्कारों में कैसे बदलें? कहते हैं कि आठ से चौदह साल की उम्र ऐसी है जिसमें बच्चों को बहुत सावधानीपूर्वक परिष्कृत किया जा सकता है। हमारा थोड़ा-सा गलत व्यवहार उसको बिगाड़ भी सकता है। जब हम संघ में आए हैं तो हमारे पूर्व जीवन का सब कुछ हमें भूल जाना है। यदि हम उसे ही याद रखते हैं तो यही बाधा बन जाता है। आप कितने पढे हैं, कितनी आपकी आयु है, किस पद पर आप काम कर रहे हैं, यह सब याद रखेंगे तो यह सृजन के लिये रोग बन जाएगा। जैसे एक बच्चा नर्सरी में भर्ती होता है, उसी प्रकार हम यह मानकर चलें कि हम कुछ नहीं जानते, हमारे लिये सब कुछ नया है, तभी आपके ज्ञान का प्रवाह शुरू होगा। तभी सद् संस्कारों का सृजन प्रारम्भ होगा। इसके बाद गुरु-परम्परा प्रारम्भ होती है।

हम कुछ नहीं जानते हैं और हमें कुछ सीखना है तो उसके लिये क्या करना है, उसके लिये गीता की उक्ति है - ***तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।*** तब एक तत्वज्ञ महापुरुष के पास जाएँ। हमारे पास महापुरुष कहाँ से लाएँ? जो हमारे पूर्व साथी, जो हमारे अग्रज हैं, जो वरिष्ठ स्वयंसेवक हैं, जिन्होंने अनेक शिविर किए हैं, जो उन्होंने सीखा है, उनसे हमको बहुत कुछ सीखना है। यह आवश्यक नहीं कि वे सब कुछ सीख गए हों। अगर वे बिगड़ गए हैं तो हम भी बिगड़ जाएंगे। अर्थात् हमारे ऊपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। हमें स्वयं तो सीखना ही है, दूसरों को भी सीखाना है। तब जो वरिष्ठ हैं, वरिष्ठ हो जाएंगे, उन पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। वे अपने जीवन को साफ-सुथरा रखें। लोग आपकी ओर देखते हैं। लोग प्रेरणा लेते हैं। जैसे आप हैं वैसे हमारे साथी बनेंगे। यह संस्कारों के सृजन का प्रारम्भ है।

सीखने के लिये पहली आवश्यकता है अपने घटप्रमुख की आज्ञा का पालन करना। जो घटप्रमुख की आज्ञा का पालन नहीं कर सकता, वह शिक्षक की आज्ञा का क्या पालन करेगा, वह शिविर प्रमुख की आज्ञा का क्या पालन करेगा। जो आज्ञा पालन नहीं कर सकता, वह सिपाही भी नहीं बन सकता। वह सुपुत्र भी नहीं बन सकता, वह अच्छा शिष्य भी नहीं बन सकता। वह साधक भी नहीं बन सकता-पूर्ण सावधानी के साथ। आज्ञा पालन में जो कहा जाए, वह करे। अतिरिक्त समय हो उसमें सेवा करे। घटप्रमुख की सेवा या पथक शिक्षक की सेवा के लिये नहीं कह रहा हूँ। सबसे बड़ी सेवा तो है अपने शिक्षक की आज्ञा का पालन करे। यह यदि हम नहीं करते हैं तो हमारा सृजन का प्रारम्भ भी गलत हो गया। संस्कारों का निर्माण होगा ही नहीं, हम परिष्कृत हो ही नहीं सकते। यहाँ हम आए हैं, हमको कुछ वरिष्ठ लोगों के साथ रहने का अवसर मिला है, तो उनकी आज्ञा का पालन करें। अपने घट में, अपने शिविर में और इस परिसर में जितना सेवा का कार्य बिना किसी की आज्ञा दिए कर सकते हैं, वह हमारे जीवन को परिष्कृत करेगा। जो कहने पर करता है, वह अभी मनुष्य बना है। हमको मनुष्य बनना है लेकिन इससे अधिक श्रेष्ठ है, बिना कहे करना।

जो पूर्व जन्म के संस्कार हैं उनके बारे में हम क्या करें, हम वे संस्कार जानते नहीं हैं तो उनको मिटा कैसे सकते हैं, उनको बदल कैसे सकते हैं, बढा या घटा कैसे सकते हैं? एक दृष्टांत है-काशी से एक पंडित पढकर आया। विद्याध्यन करने के बाद सारी पोथियाँ लेकर वह जा रहा था अपने घर। राह में गंगा किनारे बैठकर स्नान किया। अपनी पोथियाँ उठाई और चलने लगा तो देखा नंगे पाँव से चले हुए व्यक्ति के पदचिह्न बने हुए हैं। वह समुद्र शास्त्र जानता था, रेखाओं के बारे में जानता था। उसने उन पदचिन्हों में पाँव की रेखाएँ देखी। यह तो किसी चक्रवर्ती सम्राट की रेखाएँ हैं, फिर वह अकेला कैसे चल रहा है, उसके साथी साथ में क्यों नहीं हैं। उसके सिपाही, उसके दरबारी, उसके गाड़ी घोड़े, किसी के भी तो चिह्न नहीं हैं। उसकी उत्सुकता बढ गई और वह उन पदचिह्नों के साथ बढने लगा। कुछ दूर जाने पर उसने देखा एक महात्मा बैठे हैं। वे महात्मा बुद्ध थे। पंडित उनके पास जाकर बैठ गया। जब महात्मा बुद्ध ने आँखें खोली तो उन्होंने पूछा कि वह वहाँ कैसे आया। उसने उत्तर दिया कि मैं बड़ा आश्चर्य में पड़ा हूँ कि मैंने आपके पदचिह्न देखे और रेखाओं को देखा तो लगा ये तो चक्रवर्ती सम्राट के पदचिह्न हैं लेकिन आप तो फकीर हैं। महात्मा बुद्ध मुस्कराए और कहा कि जन्म तो मैंने चक्रवर्ती सम्राट का ही लिया था और चक्रवर्ती सम्राट बनने ही वाला था, यह पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण मुझे मिला था, इसके लिये इस जन्म की मेरी कोई साधना नहीं थी। लेकिन मैंने जो साधना की उसने पूर्व जन्म के उन संस्कारों को मिटा दिया। प्रारब्ध को बदल दिया। तो पूर्व जन्म के संस्कारों को, हमको मिली हुई उस पूंजी को हमारा पुरुषार्थ बदल सकता है।

क्या सद् संस्कारों की साधना के लिये आप अच्छे साधक बन सकते हैं? अवश्य बन सकते हैं। यह सभी में संभावना है। सभी लोग श्रेष्ठ बन सकते हैं। आपको अच्छा बनना है। संस्कार सृजन का विषय बहुत लम्बा है, थोड़ी देर में समझाना संभव नहीं। लेकिन यहाँ संस्कारों का सृजन बार-बार दोहराने से होता है। एक ही बात को बार-बार कहकर, उसकी पुनरावर्ती करके, खेलों को बार-बार खिलाकर के, एक ही कार्य को बार-बार करने से संस्कार बनते हैं। अभ्यास की पुनरावर्ती की बात ही गीता कहती है। हम शिविर में आते हैं, एक बार आते हैं, दो बार आते हैं, पचास बार, सौ बार आते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो तीन-तीन सौ बार शिविर में आ गए हैं। हम बाहर संसार में जाते हैं तो संसार के प्रवाह में यहाँ सीखे हुए संस्कार धूमिल पड़ जाते हैं। इसलिए बार-बार आने की आवश्यकता है पुनरावर्ती की आवश्यकता है। ऐसा न मान लें कि जो एक बार सुन लिया, कर लिया, उसे बार-बार करने की क्या आवश्यकता है। बार-बार करने से, अभ्यास से संस्कार बलवती बनते हैं। हमारे जीवन में यहाँ आने से क्या अन्तर पड़ा, यह शिक्षक का काम है। इस शिविर में अपेक्षा से अधिक संख्या आ जाने से आप सबसे मिलना-जुलना नहीं हो रहा है, लेकिन एक नजर सब पर डालने का प्रयास करता हूँ। आपके अन्दर के भावों को जानने का प्रयत्न करता हूँ। आप में कितना बदलाव आ रहा है, इसे जानने का प्रयत्न करता हूँ। यह कोई मैं नहीं करता, यह क्षत्रिय युवक संघ करता है, उसकी जिम्मेदारी दी हुई है मुझे। आप भी जिम्मेदारी लें तो अपने प्रारब्ध को भी नया रूप दे सकते हैं। पूर्व जन्मों के कर्मफल को भोगने हम कोई दीन-हीन बनकर आए हैं, तो हम दीनता-हीनता का त्याग कर सकते हैं, उसे हटाकर समृद्ध बन सकते हैं। हम सभी को समृद्ध बनना है। हमको स्वस्थ बनना है, निरोग बनना है। साथ ही साथ अच्छा इन्सान बनना है। राष्ट्र का अच्छा नागरिक बनना है। जिस कुल में हमने जन्म लिया है, उस कुल की लाज का सदैव ध्यान रखते हुए हमें चलना है। आज के प्रभात में क्षत्रिय युवक संघ यही मंगल संदेश दे रहा है।

✻

गतांक से आगे

पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)

''जो कुछ देखा, समझा व अनुभव किया''

– चैनसिंह बैठवास

इस संसार में तो भाँत-भाँत के लोग हैं। सब एक जैसी मानसिकता वाले हो भी नहीं सकते। स्वस्थ मानसिकता वाले और बिमारू यानी विकृत मानसिकता वाले दोनों का समाज के प्रति जो सोच है, जो दृष्टिकोण है, वो एक जैसा नहीं हो सकता, उनमें अन्तर रहेगा। हम में से जो लोग विकृत मानसिकता वाले हैं वो समाज को बिगड़ा हुआ मानकर समाज को ही दोष देते हैं और खुद समाज सुधारक बनकर समाज को सुधारने का दम्भ करते हैं। ऐसा दम्भ भरने वाले लोग अहंकारी होते हैं जो स्वयं को समझना ही नहीं चाहते, उनकी अंगुली हमेशा दूसरों की तरफ ही रहती है। ऐसे लोगों के बारे में पूज्य श्री तनसिंहजी ने समाज को सम्बोधित करते कहा-''कुछ लोग तुम्हें गालियाँ देकर तुम्हारा सुधार करना चाहते हैं। तुम्हें पिछड़ा हुआ, स्वार्थी, अहंकारी और न जाने क्या-क्या बताकर स्वयं परोपकारी और सुधारक होने का दावा करना चाहते थे। मैंने भी उन्हीं की राग में तुम्हारे सुधार के व्रत की घोषणा की। पर तुमने बताया कि इतनी व्यर्थ की बकवास की अपेक्षा तुम अपने आपको सुधारने की चेष्टा करो, मैं तो सुधरा हुआ ही हूँ। तब मुझे भी समझ में आया कि हम तुम्हें गाली देकर अपने आपको गाली दे रहे हैं। तुम्हारे प्रति आदर देना हमारे अपने स्वाभिमान की सृष्टि करना है। बुराई और आलोचना के बाद वैकल्पिक मार्ग न रखना तो हद दर्जे का वाक् व्यभिचार है, किन्तु विकल्प रखकर भी हम स्वयं उसे दूसरों के लिये छोड़ दें और स्वयं उसका श्रेष्ठतम आदर न करें, तो हमारी वह आलोचना भी आचरणहीन ज्ञानियों का भयंकरतम अपराध है। मैंने तो केवल एक ही मार्ग चुना है,-तुम्हारी बुराई न करना, तुम्हें आदर से देखना और तुम्हारी नजरों में अपने आपको ऊपर उठाना। हम तुम्हें छल नहीं सकते। तुम्हें छलने की चेष्टा में तो हम अपने आपको छलते हैं।''

जो लोग अपने समाज के सुधार की बात करते थे उन्हें पूज्य श्री तनसिंहजी भटके हुए, विकृत मानसिकता वाले इन्सान मानते थे क्योंकि माँ का सुधार नहीं किया जा सकता। उनकी तो सेवा-पूजा की जाती है। सुधार करना है तो अपना करो। अपना सुधार होगा तो समाज स्वतः सुधर जायेगा।

काल का जो प्रवाह चल रहा है उसे कुछ लोग विकासशील व प्रगतिशील मानकर उसके साथ चलने की वकालत करते थे, पर वे इनके परिणाम को नहीं जानते थे। वे नहीं जानते थे कि हमारा यह नारा समाज के लिये कितना विनाशकारी साबित होने वाला है, वे नहीं जानते थे कि यह नारा समाज विरोधी योजनाबद्ध षड़यंत्र का हिस्सा है। काल के प्रवाह को प्रगतिशीलता का नारा देने वाले निःसंदेह भटके हुए इंसान थे पर समाज सुधार का दावा करने वाले समाज के ठेकेदार तो पूज्य तनसिंहजी को भटका हुआ मानते थे, उन्हें पटरी से उतरा इंसान मानते थे। इस पर पूज्य श्री तनसिंहजी ने बताया-''कुछ लोग विचारों की दृष्टि से कंगाल, दकियानूसी और भटका हुआ मानते हैं। वे यह समझते हैं कि मैं काल की विकासमयी चेष्टा को पीछे की ओर ले जाने का असफल और हास्यास्पद प्रयत्न करता हूँ। ऐसे लोगों में कुछ जो मुझे शत्रु भाव से देखते हैं-वे मेरे सामने नहीं, किन्तु अन्य लोगों के सामने बढा-चढाकर और तोड़-मोड़ कर बातें रखते हैं। किन्तु कुछ इनमें से जो मुझे मित्र भाव से देखते हैं,-मेरी सूझ-बूझ की कृपणता पर दया प्रकट करते हैं और यत्नपूर्वक अपनी बात समझाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु दोनों में एक भी ऐसा नहीं है, जो अपनी बात को समझाने के हठ से पहले मेरी बात समझने का प्रयत्न करते हों। मैं भी ऐसे लोगों की चिन्ता नहीं करता और न उनके किसी आरोप का उत्तर देता, क्योंकि मैं जानता

हूँ, मेरा उत्तर समझने की शक्ति अभी तक उनमें पैदा नहीं हुई है। जिस काल की विकासमय-चेष्टा की वे पुरजोर वकालत करते हैं, उसकी कभी कसकर ठोकर लगेगी, तभी बेतहाशा दौड़ते हुए वे रुक कर संपूर्ण स्थिति का सिंहावलोकन कर सकेंगे और तभी मैं अपना दृष्टिकोण उनके सामने रखूंगा, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है, कि उनके प्रश्नों का उत्तर मेरे पास नहीं है। मेरे समाज! काल का यह तथाकथित प्रगतिशील प्रवाह तुम्हारे संपूर्ण स्वरूप का विरोधी है। लोग तुम्हें योजनाबद्ध रूप से समाप्त करने का संकल्प कर बैठे हैं और उन्हीं का पहला नारा है-समय के प्रगतिशील चरण विकास की ओर बढ रहे हैं। पर जो तुम्हारे योजनाबद्ध संपूर्ण समाप्ति के षड़यंत्र में अभागे मोहरे बन गए हैं, वे तुम्हारी सेवा के नाम से ऐसा करते हैं-यही दुखदायी बात है। पर वे भटके हुए हैं। उनकी आँख शायद अपना सर्वनाश देखने से पहले ही बन्द हो जाय। सम्भवत: यह भी हो, कि उनकी आँख जब वह अन्तिम दृश्य देखेगी तो शायद मस्तिष्क को कुछ भी संदेश देने की क्षमता खो डालेगी या बुद्धि उस समय शायद अपने पूरे हथियार डाल चुकी होगी। तुम्हारी सेवा का अर्थ है, तुम्हारी और केवल तुम्हारी सेवा। किसी की सेवा से किसी का विनाश होगा यह कल्पना भी विकृत मस्तिष्क की कल्पना है। वे बेचारे उन पराये लोगों की कार्यशक्ति की कठपुतलियाँ हो चुके हैं, जो तुम्हारे हितैषी नहीं,-शत्रु हैं। समय के प्रगतिशील चरणों का नारा तो तुम्हारे शत्रुओं का नारा है, यह तो उस मायावी शत्रु की छलपूर्ण युक्ति है, जिसके वे शिकार हो गए हैं। तुम्हारा विकास तुम्हारे अपनत्व का विकास है। तुम्हारी प्रच्छन्न शक्तियों का विकास है। तुम्हारे विकास का अर्थ है, तुम्हारे नैसर्गिक गुणों और विशेषताओं का विकास, जो इस देश और राष्ट्र की ही नहीं, मानव जाति की गहन समस्याओं का हल है। तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारी विशिष्ठता और तुम्हारे गुणों को नष्ट कर कोई तुम्हारी सेवा का दम्भ भरता हो, वह कितना पाखण्ड प्रिय व्यक्ति है।''

पूज्य श्री तनसिंहजी को नासमझ व बहका हुआ इंसान मानकर कुछ लोगों ने कहा-''यह क्या अड़ंग-बड़ंग लिखते और बकते हो। यह सब छिछली भावुकता है। आदर्श कल्पनाओं का जाल है, जिसमें तुम बहके जा रहे हो। विवेक से काम लो और सोचो कि क्या यह सब बातें व्यावहारिक हैं? यह यथार्थ सत्यों से पलायन की प्रवृति है, जिसमें कल्पना का लोक अपने चारों ओर बनाकर हम अपने आपको छलने के सिवाय समाज की उदीयमान युवक शक्ति को बहका कर उसके जीवन को बर्बाद कर रहे हैं।''

उन लोगों को उत्तर देते हुए पूज्य श्री ने कहा-''जिसे वे भावुकता कहते हैं, वही मेरा विवेक है। उनके लिये एक बात पागलपन है, वह मेरे लिये ठोस अनुभूतियों की नींव पर खड़ा कटु सत्य है। वे बुद्धिमान हैं, मैं मूर्ख हूँ। मैं उनकी बात समझने की सामर्थ्य नहीं रखता किन्तु वे बुद्धिमान होकर भी मेरी बात क्यों नहीं समझ रहे हैं? उनका कहना है कि बुद्धिमान भी मूर्ख की बात नहीं समझ सकता। तब वे अधकचरे बुद्धिमान हैं। मूर्ख का भी उद्देश्य होता है, उसका भी कोई स्वप्न होता है, वह भी स्वप्न सिद्धि के लिये संकल्पपूर्वक यत्न करता है। यदि कोई मूर्ख अन्त तक अपनी विचारधारा पर धृष्टतापूर्वक अड़ा रहता है तो अन्त में संसार उसे महापुरुष घोषित कर देती है। संसार के हर महापुरुष को प्रारम्भ में उसके समकालीन लोगों ने मूर्ख ही ठहराया था। परिणामों से ही सामान्य लोग कर्मों की महत्ता सिद्ध करते हैं, इसीलिए जिसका परिणाम आज लोग नहीं जान पाये, वे यदि मुझे भावुक या पागल कहें तो इसमें उनका क्या दोष? यह तो अत्यन्त सामान्य बात है। हर स्वप्न सत्य हो सकता है, किन्तु कोई भी सत्य स्वप्न नहीं होता। उसे हठपूर्वक उपार्जित करने की क्षमता न हो तो सत्य केवल हमारे लिये स्वप्न बना रहता है, पर वास्तव में वह स्वप्न नहीं है।

''मैं तेरे आलोचकों की इस प्रकार की विवेकहीन निर्बलताओं से मेरी आलोचनाओं की परवाह नहीं करता

(शेष पृष्ठ 14 पर)

गतांक से आगे

आध्यात्मिक रूपान्तरण

– स्वामी यतीश्वरानन्द

हमारे भीतर देव और दानव दोनों हैं :

अपने आन्तरिक स्वभाव को अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि हममें परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान हैं। देव अथवा दानव खोजने के लिये हमें बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वे सभी हमारे भीतर हैं। भारत के पुरातन ऋषि महान् दार्शनिक और साथ ही मनोविज्ञ भी थे, और उन्होंने इस बात को उपनिषदों की अनेक कहानियों के माध्यम से व्यक्त किया है। तदनुसार हम बृहदारण्यक उपनिषद् में पाते हैं कि प्रथम स्रष्टा प्रजापति की तीन प्रकार की सन्तानों-देवता, मानव और दैत्यों-ने उनसे उपदेश की याचना की। इन तीनों को उन्होंने एक ही अक्षर ''द'' का उपदेश दिया। देवताओं ने उसका अर्थ दाम्यत या ''अपने मन और इन्द्रियों को संयत करो'', समझा। मानवों ने इसका अर्थ दत्त या ''लोभ का संवरण और दान'', समझा, और दैत्यों ने उसका अर्थ दयध्वं या ''अपने क्रूर स्वभाव को नियन्त्रित कर दयालु होना'', समझा।

महान् अद्वैतवादी दार्शनिक एवं ऋषि शंकराचार्य ने इस कथा की इस तरह व्याख्या की है : मानव से भिन्न कोई दैत्य या देवता नहीं है। एक ही मानव जाति संयम, दान और दया तथा सत्त्व, रजस्, और तमस् के न्यूनाधिक अनुपात से देव, मानव और दैत्य कहलाती है। इसीलिए एक ही निर्देश श्रोता की मूल प्रकृति के अनुरूप तीन भिन्न प्रकार से समझा गया था। आत्मसंयमविहीन, लेकिन अन्य सद्गुणों से युक्त लोग देवता हैं। अत्यधिक लोभी व्यक्ति सामान्य मानव है, और जो क्रूर स्वभाव लोग दूसरों को हानि पहुँचाने में सुख का अनुभव करते हैं, वे दानव हैं। उल्लिखित तीनों साधनाएँ मानव के लिये ही हैं, क्योंकि देवता, मानव और दानव हमारे मानव स्वभाव के ही अंग हैं, और हमारी समता, शुभ कर्मों तथा लोभ और क्रूरता के नियंत्रण के अनुपात के अनुसार हम ही देव, मानव अथवा दानव कहलाते हैं।''

उपनिषदों में एक ही वृक्ष पर रहने वाले सुन्दर पंखों वाले तथा एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र, दो पक्षियों सम्बन्धी एक प्रसिद्ध वर्णन है। एक पक्षी अज्ञान से भ्रमित हो वृक्ष पर उगने वाले फल चाव से खाता है, जबकि दूसरा पक्षी शान्तिपूर्वक वृक्ष के शिखर पर बैठा रहता है। फल खा रहा नीचे का पक्षी वासना अथवा रजस् से प्रेरित हो इच्छाओं की पूर्ति का प्रतीक है। ऊपर वाला पक्षी सतोगुणी लोगों की तरह निचली डालियों पर उग रहे फलों के लिये लालायित नहीं होता। थोड़ी-थोड़ी देर में, व्यग्रतापूर्वक खाने में लगा, लेकिन फिर भी निरंतर असंतुष्ट बना हुआ पक्षी, प्रशान्त, किसी भी समय उड़ने को तत्पर ऊपरवाले पक्षी की ओर देखता है। वह अपने ऊपरवाले मित्र के प्रति अत्यधिक प्रेम का अनुभव करता है, और उससे मिलने की इच्छा से ऊपर की ओर फुदकता है, लेकिन दूसरे फल को देखकर रुक जाता है। परन्तु आखिरकार ऊपर की ओर उसकी प्रगति में सभी बाधाओं की इच्छा त्यागकर वह ऊपरवाले पक्षी से मिलने में सफल होता है। लेकिन तब उसे पता चलता है कि दोनों पक्षी वस्तुत: एक ही हैं। तब उसे ज्ञात होता है कि अज्ञान के कारण उसने सांसारिक इच्छाओं की वासनोत्पादक शक्ति रजोगुण के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था। इस तादात्म्य के समाप्त होने पर तथा अपने वास्तविक अपरिवर्तनशील आध्यात्मिक स्वरूप का साक्षात्कार होने पर पशु स्वभाव रूपान्तरित हो जाता है तथा उसका अतिक्रमण हो जाता है।

आत्मा के नकाब :

अविद्या हानिकारक है, क्योंकि वह आत्मा को विस्मृत करवा देती है। और इस अविद्या के कारण आत्मा एक नकाब-व्यक्तित्व रूपी नकाब पहन लेती है। हम एक के बाद एक इतने नकाब (मुखौटे) पहन लेते हैं कि यह कहना भी कठिन हो जाता है कि हम वास्तव में क्या हैं।

बंगाल के महान् नाटककार-अभिनेता गिरीश कहा करते थे, ''कभी किसी अभिनेत्री की साज-सज्जा करने के बाद मैं उसे पहचानने में असमर्थ हो जाता था, अथवा यह नहीं बता पाता था कि कौन सा पात्र कौन है।'' इसी तरह आत्मा एक सूक्ष्म शरीर धारण कर लेती है, फिर एक स्थूल शरीर धारण करती है, जिसके ऊपर वह विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा धारण करती है, और अन्त में वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने में असमर्थ हो जाती है। और जैसे कभी हम अपने को पहचान नहीं पाते, उसी तरह दूसरों को भी पहचान नहीं पाते। जब तक अविद्या का नकाब दूर नहीं होता और हम इन नकाबों के भीतर से देखने में समर्थ नहीं होते, तब तक हम अन्तरात्मा को नहीं पा सकते। इन नकाबों या आवरणों के साथ मिथ्या तादात्म्य ही हमारे दुःख और बन्धन का कारण है। अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होते ही, आत्मा का परमात्मा के साथ, ऊपर बैठे पक्षी के साथ, जो सदा अपने प्रिय साथी की प्रतीक्षा कर रहा है, मिलन होते ही दुःख का अन्त हो जाएगा।

वेदान्त के अनुसार मन और इन्द्रियाँ आत्मा के सूक्ष्म आवरण या शरीर का निर्माण करते हैं, जबकि भौतिक शरीर स्थूल आवरण है। इन दोनों आवरणों को शुद्ध करना है, जिससे वे पूर्व विद्यमान आत्मा को प्रकाश प्रतिबिम्बित कर सकें। सभी नैतिक और आध्यात्मिक साधनाओं का उद्देश्य यही है।

हमें देह, मन और आत्मा की स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। देह और मन के सम्बन्ध के विषय में अनेक मान्यताएँ हैं। मनोविश्वलेषकवृन्द व्यक्ति को देह और मन अथवा मन और देह नहीं, बल्कि देहमनसमष्टि मानते हैं। उनमें से एक ने कहा है : ''देह और मन एक और अविभाज्य हैं। तुम्हारा मन तुम्हारी देह है और तुम्हारी देह तुम्हारा मन है।'' कुछ दूसरे लोग मन को देह से ऊँचा स्थान देते हैं : ''मन एक अभौतिक पदार्थ सा है। उसे देखा, छुपा या मापा-तोला नहीं जा सकता है। यदि तुम चाहो तो उसे कोई आध्यात्मिक वस्तु कह सकते हो।'' यह देह-मन-संघात-सिद्धान्त से कुछ आगे है। डॉ. युंग और भी आगे बढ़कर कहते हैं : ''अहंकार रोगग्रस्त हो गया है, क्योंकि वह पूर्ण से अलग हो गया है तथा मानवता और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है।'' लेकिन उनकी पुस्तक 'माडर्न मेन इन सर्च आफ ए सोल' से यह स्पष्ट है कि उन्होंने भी यह आविष्कार नहीं किया है कि विशुद्ध आत्मा मन से भिन्न है, जो एक सूक्ष्म आवरण और एक कारण मात्र है। पाश्चात्य मनोविज्ञान अभी भी अपने बाल्यकाल में है, और उसके द्वारा मानव की वास्तविक आत्मा को खोज निकालना बहुत दूर है।

हिन्दू ऋषियों ने मानव के वास्तविक स्वरूप का पता लगाने के लिये मानव चेतना के सभी विभिन्न स्तरों का अध्ययन किया था। वेदान्त मानव के तीन शरीरों का वर्णन करता है, जो अपने वास्तविक स्वरूप में विशुद्ध आत्मा है। सर्वप्रथम कारण शरीर या चैतन्य-रहित अहंकार है, जिसमें विविधता सुप्त रूप से पड़ी रहती है, जैसा कि सुषुप्ति में होता है। इसके बाद सूक्ष्म शरीर है, जो चेतनायुक्त अहंकार, मन, सूक्ष्म-स्मृति-संस्कारों, सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की समष्टि है जो सभी स्वप्नावस्था में अभिव्यक्त होते हैं। लेकिन हमारी तथाकथित जाग्रतावस्था-क्रियाशीलता की तीसरी अवस्था-प्रायः स्वप्न से केवल थोड़ी ही बेहतर होती है। स्थूल भैतिक नेत्र, कर्ण तथा अन्य इन्द्रियाँ उन सूक्ष्म शक्तियों के कारण या यन्त्र मात्र हैं, जो प्रतिदिन भौतिक जीवन, क्रियाकलापों में दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति आदि के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। स्थूल अंगों से युक्त स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर का आस्पद या स्थान है, तथा उसके द्वारा नियन्त्रित होता है।

आध्यात्मिकता का महत्त्वपूर्ण मापदण्ड-चरित्र का रूपान्तरण :

क्या तुम ऐसे लोगों से मिले हो, जो यह ढिंढोरा पीटते फिरते हैं कि उनका उद्धार हो गया है, और जो दूसरों को अपने मुक्ति-मार्ग पर बलपूर्वक लाने के लिये

अत्यधिक आतुर हैं? वे स्वयं की रक्षा करना सीखने के पूर्व दूसरों की रक्षा करना चाहते हैं। दिखावटी धर्म-परिवर्तन के विषय में एक कथा है। एक रविवार को प्रात:काल एक बालिका ने एक किराने की दुकान का सामने वाला दरवाजा खटखटाया। ऊपर की मंजिल से उसकी सहेली, किरानेवाले की कन्या ने झाँककर कहा, ''बहन! हम सभी धर्म-सभा में गए थे, और अब हम परिवर्तित हो गए हैं। अब यदि तुम्हें रविवार के दिन दूध लेना हो, तो तुमको पीछे के दरवाजे से आना होगा।'' पहले रविवार के दिन दुकान खुलती थी, लेकिन अब से सामने का दरवाजा बन्द रहेगा और लेन-देन पहले की तरह पीछे के दरवाजे से होता रहेगा। हममें से बहुत से लोग कुछ इसी प्रकार की बात करते हैं। ऐसा 'धर्मान्तरण' पूर्व के जीवन से भी बुरा है। सच्चा परिवर्तन होना चाहिए। हमें अपनी जीवन पद्धति को बदलकर पहले से श्रेष्ठतर बनना चाहिए। दिखावे और ढोंग का जीवन त्याग कर हमें नैतिक-पथ का गम्भीरतापूर्वक अनुसरण करते हुए, जीव को साधन-पथ पर बनाए रखने वाले समतायुक्त सत्त्वगुण की सहायता से, तमोगुण और रजोगुण अर्थात् तामसिक और विक्षेपकारक शक्तियों से युक्त अपने निम्न-स्वभाव पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों के पादपद्मों में हमें यही शिक्षा प्राप्त हुई है। उन्होंने हमें बताया था कि श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में कुछ भक्तों के साथ क्या घटा था। बहुत से आध्यात्मिक जिज्ञासु उनके पास, विशेषकर उनके जीवन के अन्तिम काल में एकत्रित होने लगे थे। श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने पाया कि उनके कुछ गुरु भाई श्रीरामकृष्ण की दैवीशक्तियों की चमत्कारी अभिव्यक्तियों के लिये व्यग्रतापूर्वक प्रतीक्षा किया करते थे, तथा उनसे वे उच्च आध्यात्मिक भावभूमि में आरूढ़ हो जाते थे। उनमें से कुछ लोग अश्रुवर्षण तथा भावों की अत्यधिक अभिव्यक्ति सहित अर्धबाह्यदशा प्राप्त करने लगे। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार श्रीरामकृष्ण से शिकायत की कि उन्हें ऐसी कोई भावावस्था प्राप्त नहीं होती है। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें कहा कि मानव स्वभाव का संपूर्ण परिवर्तन करने वाली तथा उच्च आध्यात्मिक अनुभूति दिलाने वाली मन और हृदय की पवित्रता की उपलब्धि की तुलना में छिछली भावनाएँ और दर्शन बहुत तुच्छ हैं। ''वत्स! चिन्तित मत होओ। जब एक विशाल हाथी एक छोटी-सी तलैया में प्रवेश करता है, तो उसमें महान् उथल-पुथल मच जाती है, लेकिन यदि वह गंगा में उतरे, तो बहुत कम हलचल होती है। ये भक्त छोटी तलैया जैसे हैं, तुम उस नदी की तरह हो।''

श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार स्वामी विवेकानन्द ने युवा भक्तों से कहा कि यदि भावोद्वेग के बाद तदनुरूप रूपान्तरण तथा सांसारिक आकर्षणों को नष्ट करने में और आध्यात्मिक चेतना जगाने में समर्थ चरित्र की पवित्रता का उदय न हो, तो उन भावावेगों की आध्यात्मिक जीवन में कोई सच्ची उपयोगिता नहीं हो सकती। आध्यात्मिक जीवन के लिये आवश्यक कठोर साधना करने के अनिच्छुक बहुत से लोग केवल दिखावा करते हैं, और ढोंगी बन जाते हैं। ऐसे कुछ लोगों में, जो नैतिक आधार को दृढ़ बनाने तथा पवित्रता की उपलब्धि हेतु प्रयत्न नहीं करते, ऐसे महान् भावों का प्रवाह हो सकता है जिसकी तीव्रता को वे सहन नहीं कर पाते, और परिणामस्वरूप अपना मानसिक संतुलन खो देते हैं। लेकिन उन लोगों के लिये आध्यात्मिक जीवन पूर्ण रूपेण निरापद है जो निष्ठापूर्वक इस पथ का अनुसरण करते हैं, अपने कर्तव्यों का पालन पूजा के रूप में करते हैं, तथा आन्तरिक पवित्रता के लिये आवश्यक विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं को सतत करते रहते हैं।

हम सभी को आध्यात्मिक जीवन के खतरों से सावधान रहना चाहिए तथा चरित्र के रूपान्तरण का प्रयत्न करना चाहिए जिसके द्वारा नैतिक पवित्रता और शक्ति प्राप्त होती है, और हम उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति के लिये सक्षम होते हैं। इसी से हमारे भीतर विद्यमान तामसिक दानव और राजसिक मानव, सात्त्विक

(शेष पृष्ठ 20 पर)

ऐसी हो सेवा निवृति

– श्री निवृत

आज घर में खासा उत्साह है। चूरमे के लड्डू और पकोड़ों का खाना बना है। पक्के घर के कच्चे आँगन में कतार में व्यवस्थित रूप से रखी हुई 180 बोरियों का ढेर आँख व उर को ठण्डक दे रहा है। पचास बीघे खेत में सवा सात सौ मण तिल पैदा कर लड़के अपने पिता से सवाया सिद्ध हुए हैं। पिता मनजी भाई ने अपने पुत्रों को कारोबार सौंपा उसको अब एक साल हुआ था। मनजी भाई ने अन्य बुजुर्गों की तरह मात्र कहने को ही कारोबार नहीं छोड़ा था। लड़के क्या खेत में बोते हैं, कब खेत में जाते हैं, कितना काम करते हैं, कौनसे खाद या कौनसी दवाईका उपयोग करते हैं, आदि किसी भी प्रकार की किचकिच या चौंच डुबाने का कार्य मनजी भाई ने नहीं किया। बिना माँगे सलाह न देने के नियम का पालन वह अपने लड़कों से करता है। हाँ, यदि लड़के कुछ पूछते हैं तो जरूर मार्गदर्शन करता है।

''मनजी! इस तरह बिल्कुल सब कुछ बच्चों पर ही छोड़ देना नहीं चाहिए। बच्चों में हमारी जैसी प्रौढता नहीं होती, वैसे अनुभव नहीं होते। वे इस कमी से कुछ नुकसान कर बैठेंगे तब?'' दस माह पूर्व जीवन-मुक्त (निवृत) हुए एक प्रौढ ने मनजी को कहा था।

''निवृत होने, छोड़ने का मतलब यही होता है कि लड़के जो करते हैं, उन्हें करने दिया जाए। वे अच्छा करके यदि सब बढाते हैं, तो वह उनका है और यदि वे घटाते हैं तो वह भी उनका है। अपने को तो दो बार खाना और दो बार चाय समय पर दे दें। बीमार हो जाएँ तो डॉक्टर के ले जायँ, दवाई दिलावें और सेवा करें, बस इतना हो जाए। वैसे भी कहाँ तक उनको अंगुली पकड़ कर चलाते रहेंगे? यमराज का बुलावा आ जाएगा, फिर क्या कुछ कहने के लिये हम आएँगे? और लड़कों के स्वयं के बच्चे हो जाएँ, फिर भी हम उन्हें बच्चे समझ कर चलाते रहें, यह पागलपन नहीं तो और क्या है?'' शान्ति से जवाब देकर मनजी भूतकाल में खो गया था।

बरसों पहले मनजी के पिता त्रिकम भी घर व खेत का कारोबार छोड़कर निवृत हुए तब वे भी कुछ ऐसा ही बोले थे। त्रिकमभाई ने निवृति ली तब मनजी युवा हो चुका था। त्रिकम बापा को जब किसी प्रौढ साथी ने लड़कों को सलाह देते रहने का कहा तो वे बोले,-''दूध में जामन डालकर फिर बार-बार पतेली में अंगुली डालकर देखते रहें तो क्या दही जमेगा?''

अपने और अपने भाइयों के हाथों में कारोबार आने के बाद मनजी ने बाजरा बोया था। अथक परिश्रम से जैसे भगवान प्रसन्न हुए हों, उस साल फसल बहुत अच्छी हुई। घर के आँगन में बाजरे की बोरियों का ढेर तरतीब से जचा हुआ था। बरसात की ऋतु अभी दूर थी। पर रातोंरात मौसम में परिवर्तन हुआ।

मनजी भाई और उसके तीनों भाई खाना खाकर अपने-अपने कमरों में सो रहे थे। देर रात को पानी बरसने की आवाज सुनाई दी। मनजी की नींद उड़ गई। बाहर आकर देखा तो बरसात हो रही थी और पानी में बाजरे की बोरियाँ भीग रही थी। त्रिकम भाई जहाँ बरसात के छींटे न लगें, ऐसी जगह जाकर आराम से सो रहे थे। मनजी ने दौड़कर अपने भाइयों को जगाया। पानी में भीग रही बोरियों को घसीट कर कमरे में ले जाने लगे। सुबह तक भाग दौड़ करके सभी बोरियों को अन्दर ले लिया गया फिर भी नुकसान का अंदाज कम नहीं था। बाजरा भीग जाने से बिगड़ ही जाने वाला था। कई महिनों के श्रम पर मेघराजा ने पानी फेर दिया था।

सुबह होने पर मनजी ने अपने पिता से पूछा- ''बरसात शुरू हो जाने पर आपने हमको जगाया क्यों नहीं? आप तो बाहर आँगन में ही सो रहे थे। हमको जगा दिया होता तो बाजरा भीगता नहीं।''

''तुमने मुझे कहा था क्या कि बरसात आए तो

आवाज दे देना। मैंने तो सारा कारोबार जिस दिन छोड़ा तब से मेहमान बनकर ही इस घर में रहने का ठान लिया है। समय पर खाना और आराम से रहना। हाँ, तुम लोग जितना कहोगे उतना अवश्य करूंगा। बाकी सब कुछ अगर बढता है तो तुम्हारा है और कम होता है, तब भी तुम्हारा ही है। मुझे इससे क्या?''

त्रिकम बापा के इन शब्दों में किसी प्रकार की उलाहना नहीं थी। शीतलता थी। घर के आँगन में बाजरे की बोरियों का जब ढेर जमाया गया तब चेहरे पर जैसी स्वस्थता और शान्ति थी, वैसी ही स्वस्थता और शान्ति बाजरा भीग गया उसके बाद भी थी। बाजरा ज्यादा हुआ तो वह लड़कों का था और अब जब वह बिगड़ जाने वाला था तब भी वह लड़कों का ही था। उन्होंने सही अर्थ में मेरा पन व कर्तापन छोड़ दिया था।

उस घटना से मनजी दो बात सीखा था। एक तो छोड़ना हो तो किस तरह छोड़ना और दूसरी बात, जिन्दगी के प्रत्येक प्रसंग में सावधान रहना। जवाबदार व्यक्ति को यदि कोई कहने वाला नहीं होता, तब वह अधिक जवाबदार बनता है। मनजी भी ज्यादा जवाबदार बना था। जीवन में कई बार गलती करने से इसी कारण वह रुक गया था।

चूरमे के लड्डू और पकोड़े खाकर घर के सभी लोग शान्ति से सो रहे हैं। मनजी आँगन में चारपाई पर सोया था। यकायक बूंदाबूंदी शुरू हो गई। किसी तरह की आवाज न हो, उस तरह से मनजी ने चारपाई उठाई और एक पालिये में जाकर सो गया। सोते हुए सोचा, तिल भीग रहे हैं। अब तो घर में कुछ बढता है तो लड़कों का है और यदि कम होता है तो भी उनका है। ऐसा सोचकर वातावरण की शीतलता की गोद में मीठी नींद में मनजी सो गया।

'हमने तो अब सब छोड़ दिया है। लड़के सब कुछ संभालने में सक्षम हैं। अब कब तक पकड़ के रखना?' ऐसा जगह-जगह पर कहता फिरने वाला घर में पुत्र, पुत्रवधू को बात-बात में टोकता रहे तो बुजुर्गों का इतना ही कहने का मन होता है,-'अपने आप को कब तक छलते रहोगे?'

✲

पृष्ठ 9 का शेष

पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)

क्योंकि उनकी आलोचनाएँ अथवा प्रशंसाएँ मेरी प्रेरणा के केन्द्र नहीं। मेरी प्रेरणा का केन्द्र तो तुम हो, इसलिए तुम्हें जीवित रखने के हर संभव प्रयत्नों को मैं उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता।''

बाहरी जगत की चकाचौंध, भौतिक उपलब्धियों और भोगों को परम पूज्य श्री तनसिंहजी ने फिसलन मानकर सदैव अपने को उनसे दूर रखा। वे स्वयं समर्थ थे। उनके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं था, पर अपने को इस भटकाव से हमेशा दूर ही रखा। पूज्य श्री तनसिंहजी ने कहा-

''कुछ लोग मुझ पर इसलिए दया करते हैं कि संसार में बहने वाली आनन्द और रस की नदी को छोड़कर मैं भविष्य की मृगतृष्णामयी अनिश्चित प्राप्ति के पीछे पकड़कर अपने जीवन को दयनीय बना रहा हूँ। इसमें कोई शक नहीं, जब रसमय व्यंजन जो हाथ की पहुँच के भीतर हैं, मेरे रूखे-सूखे दाल रोटी के भोजन पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करते हैं, तब मेरे पात्र उनके लिये मन ही मन मचल उठते होंगे, मेरे फटे पुराने और मोटे कपड़े लोगों की बाहरी सजधज पर अन्दर ही अन्दर चकाचौंध हो जाते होंगे। भौतिक उपलब्धियों और भोगों को देखकर मेरा साधारण जीवन शायद कई बार रात भर नींद नहीं ले पाता हो। पर मैं समर्थ होते हुए भी इन फिसलनों की ओर उन्हें बहने नहीं देता, क्योंकि जिस दिन मैंने अपनी आवश्यकताओं की लगाम को ढीला किया, मैं तुम्हारी व्यथा को भूल जाऊँगा। तुम्हारे बीज मंत्रों को भूल जाऊँगा। मेरी वास्तविकता कहीं अपने आपको आत्मविस्मृत न कर दे इसलिए मैं समस्त आकर्षणों को ठोकर मारकर साधारण बना रहना अधिक पसन्द करता हूँ।'' ***(क्रमश)***

सिहाजी राठौड़

- फूलसिंह मेहरासर चाचेरा

सिहाजी राठौड़ कन्नौज के शासक सेतरामजी के पुत्र थे। सेतरामजी के कई विवाह हुए थे और उनके कई पुत्र थे। सिहाजी उनके ज्येष्ठ पुत्र नहीं थे। सेतरामजी लाखा फूलाणी के साथ युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए थे। सेतराम जी के पुत्रों ने परस्पर यह निश्चय किया कि लाखा फूलाणी को मार कर जो पिता का वैर लेगा, वही कन्नोज की गद्दी का अधिकारी होगा। सिहाजी शिव के उपासक और परम भक्त थे। उन्हीं के आशीर्वाद से इन्होंने लाखा फूलाणी को मार कर पिता का वैर लिया और पुरस्कार स्वरूप कन्नौज का राज्य पाया। इस सम्बन्ध में एक दोहा है-

गुण पचास सिहा बड़ा, सिहा बड़ा पच्चास।
सिहा के सिर ताज है, लाखा कर्‌यो विनास।।

राव सिहाजी के जन्म के संवत के सम्बन्ध में कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती लेकिन इनके राज्याभिषेक के बारे में जानकारी मिलती है।

बारासै के बासठै, कानी पड़वा सुद।
सिहा तखत पाइया, लाखो मार्‌यो जुद।।

राव सिहाजी का राज्याभिषेक संवत् 1262 कार्तिक सुदि एकम को हुआ, मिलता है। पच्चास भाइयों से छोटे होते हुए भी लाखा फूलाणी को मारकर वे कन्नौज की राजगद्दी के हकदार बने।

राव सिहाजी के जन्म के सम्बन्ध में एक घटना बताई जाती है कि सिहाजी ने बुरे नक्षत्रों में जन्म लिया था। पंडितों की राय पर इनके पिता सेतरामजी ने इन्हें जंगल में फिंकवा दिया था कि इनका राज्य अनिष्ट की परछाईयों से सुरक्षित रह सके। इनके जीवन की रक्षा होनी थी। देव योग से एक सिंहनी ने इनको अपने बच्चों के साथ रखा। कुछ समय बीतने के साथ ये थोड़े बड़े हो गए। जंगल में जाने वाले शिकारियों ने इनके पिता सेतराम जी को इनके जीवित होने की सूचना दी। पुत्र के प्रति वात्सल्य प्रेम से सेतरामजी अधीर हो उठे। सेतारामजी ने इन्हें सिंहनी से अलग करके मंगवा लिया। ये सभी भाइयों से अधिक होनहार थे और धीर-वीर व निर्भीक थे।

एक बार ये द्वारका की यात्रा हेतु बड़ी सेना साथ लेकर रवाना हुए। इनके साथ इनकी चावड़ी रानी तथा तीन पुत्र आस्तान, सोनग और अजजी थे। यात्रा के समय एक पड़ाव पर रानी को स्वप्न आया कि भयंकर जंगल में उस पर सियारों ने आक्रमण कर दिया और उनकी आँतों को निकाल कर दूर-दूर तक बिखेर रहे हैं। इससे रानी घबरा गई और जाग गई। रानी ने सिहाजी को जगाया और अपना डरावना सपना कह सुनाया। यह पड़ाव स्थान मारवाड़ की सरहद पर था। सिहाजी ने स्थान व परिस्थितियों के अनुसार स्वप्न पर विचार किया और रानी से बिना बोले उसकी पीठ पर कोरड़े लगाए और स्वयं सो गए। रानी को इस अपमानजनक व्यवहार से बड़ा दुख हुआ और तमाम रात जागती रही व रोती रही। प्रात: को राव सिहाजी ने रानी को दुख न करने को कहा और बताया कि सियारों द्वारा आपकी आँतें बिखेरना यह बताता है कि तुम्हारी कोख से जन्मे पुत्रों का दूर-दूर तक राज्य प्रसार होगा। यदि यह स्वप्न झूठा हो जाता तो अच्छा नहीं होता। ऐसा स्वप्न आने के बाद स्वप्न देखने वाला फिर सो जाता है या किसी को बता देता है, तो स्वप्न के झूठा होने की आशंका हो जाती है। इस दोष निवारण हेतु मैंने तुम्हारे साथ यह अपमानजनक व्यवहार किया था ताकि तुम फिर नींद नहीं ले सको। मनुष्य बड़ी विपत्ति आने पर ही भगवान को याद करता है। अन्त:करण की पुकार भगवान अवश्य सुनते हैं और की गई कामना पूरी होती है, तुम्हारी कामना पूरी होने का यह स्वप्न संकेत कर रहा है। यह सुनकर रानी आश्वस्त हो गई और प्रसन्न हो गई।

राव सिहाजी के पाली आने के सम्बन्ध में भी एक दोहा प्रचलित है -

बारासो के बाणवे, पाली किया प्रवेश।
सिहा कनवन छोड़ के, आयो मरुधर देश।

राव सिहाजी मरुधर देश आने वाले पहले राठौड़ वंश राजा हैं। इन्हीं का वंश पूरे मरुस्थल में फैला हुआ है। इसी वंश, राव सिहाजी की संतान-जोधपुर, बीकानेर, झाबुआ, ईडर, आमझरा, रतलाम, सीतामऊ, सहलाना

और किशनगढ़ राज्यों पर राज करती थी। यह नौकूंटी मारवाड़ है।

पाली के बारे में कहा जाता है कि यहाँ पर पालीवाल ब्राह्मणों की अधिक संख्या होने के कारण ही इस नगर का नाम पाली पड़ा। यहाँ के ब्राह्मण व्यापार कुशल थे। इनका व्यापार देश-परदेश सभी जगह था। ये लोग समृद्धिशाली और धनवान थे। यहाँ वस्त्र उद्योग का विकास भी परम सीमा पर था। यहाँ की धनाढ्यता से आकर्षित होकर पलवर क्षत्रिय, जो कि पंवारों की शाखा में थे, अधिकार करना चाहते थे। दूसरी ओर सोनगरा, जो कि चौहानों की शाखा में थे, भी यहाँ शासन करना चाहते थे। दोनों जातियाँ इस बात को लेकर झगड़ती रहती थी। परन्तु यहाँ के ब्राह्मण किसी कारणवश सोनगरों पर विश्वास नहीं करते थे और इच्छुक थे कि कोई योग्य शासक हो।

यही समय था जब सिहाजी इस प्रदेश में पहुँचे थे। यहाँ के निवासी सिहाजी को अच्छी तरह जानते थे क्योंकि इनके व्यापारिक सम्बन्ध सिहाजी के राज्य से लम्बे समय से थे। इन्होंने सिहाजी को यहाँ की स्थिति का अवलोकन करवाया और धन आदि से सहयोग देने का आश्वासन दिया। सिहाजी ने पलवरों को अपने पक्ष में करके अपने साथ मिलाया और सोनगरों को परास्त किया। इस प्रकार पाली पर सिहाजी का शासन स्थापित हो गया। शासन व्यवस्था सुचारू रूप से चलने लगी और यहाँ के निवासी बाहरी आक्रमण से सुरक्षित हो गए। इसी समय में ईडर (मही कांठा) का कोली राजा एक ब्राह्मण कन्या से जबरन विवाह करना चाहता था। इससे वहाँ के ब्राह्मण दुखी होकर सिहाजी के पास आए और अपनी कन्या की रक्षा हेतु प्रार्थना की। सिहाजी ने उनकी रक्षा का वचन दिया और अपने पुत्र सोनग जी को सेना देकर भेजा। कोली राजा भी बलशाली था। दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ और कोली राजा मारा गया। वहाँ के निवासियों ने सोनगजी को अपना राजा बना लिया। इस प्रकार सोनगजी को ईडर का राज्य मिल गया।

पाली की शासन व्यवस्था आस्तान जी को सौंपकर सिहाजी आगे द्वारका जी के लिये रवाना हो गए। जब वे बड़वानगर पहुँचे तो वहाँ भी अराजकता फैली हुई थी। प्रजा भयंकर यातना से त्रस्त थी। प्रजा के प्रार्थना करने पर इन्होंने बड़वा के राजा पर आक्रमण कर उसे भी हरा दिया। यहाँ का राज्य उन्होंने अपने पुत्र अज जी को सौंप दिया और फिर उद्देश्य के अनुसार यात्रा आरम्भ कर दी। अज जी को बड़वानगर में ही छोड़ दिया।

द्वारका से लौटते हुए वे गुजरात की राजधानी पाटण पहुँचे। पाटण का राजा जयसिंह सोलंकी वंश का था। उन्होंने अपनी पुत्री पार्वती का विवाह राव सिहाजी से कर दिया। राव सिहाजी का कुछ समय यहाँ बीता और इनकी प्रसिद्धि का समाचार समस्त गुजरात में फैल गया। भीनमाल के ब्राह्मणों ने जब सिहाजी के बारे में सुना तो वे इनसे मिले और मुसलमानों द्वारा अपने पर किए गये अत्याचारों की पूर्ण गाथा इनको सुनाई। राव सिहाजी ने ब्राह्मणों को आश्वासन दिया और भीनमाल पर आक्रमण कर दिया। मुसलमान परास्त हो गए और भीनमाल इनके अधिकार में हो गया। राज्य फिर ब्राह्मणों को ही सौंप दिया गया। इस सम्बन्ध में भी एक दोहा प्रचलित है -

भीनमाल लीधी भले, सिहा सेल बजाय।
दत दीधो सत संग्रहयो, ओ जस कदे ने जाय।।

सिहाजी ने भीनमाल मुसलमानों से छीनी थी, तब से ही वे सिहाजी पर नाराज हो गए थे और अवसर की ताक में थे। जब उनको मालूम हुआ कि राव सिहाजी और समस्त राठौड़ी सेना भीनमाल में ही है, तो उन्होंने अचानक पाली पर आक्रमण कर दिया। राव सिहाजी को पता लगा तो वे भीनमाल की व्यवस्था संभलवाकर पाली आए और मुसलमानों का सामना किया। राव सिहाजी के प्रबल आक्रमण के सामने मुसलमान टिक नहीं सके और भाग खड़े हुए। सिहाजी ने मुसलमानों को हमेशा के लिये दूर करने हेतु उनका पीछा किया। ग्राम बिठू में पड़ाव डाला गया था। उसी समय मुसलमानों ने अचानक हमला कर दिया। राव सिहाजी ने तुरन्त सामना किया परन्तु इसी युद्ध में बहादुरी से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। यह घटना वि.सं. 1330, कार्तिक बदी 12 सोमवार को घटी। वीर सिहाजी अपने युग के महान योद्धा हुए। ऐश्वर्य सम्पन्नता एवं राज्य विस्तार को स्थायित्व देकर अपना जीवन समेट कर स्वर्ग के राहगीर बने।

राजपूती आन बान शान की पहचान-चित्तौड़गढ़, गौरवशाली गाथाओं का गढ़

- स्वामी गोपाल आनन्द बाबा

'गढ़ों में गढ़ चित्तौड़गढ़' केवल 'मेवाड़' में ही नहीं, केवल राजस्थान प्रदेश-राज्य में ही नहीं बल्कि समस्त भारतवर्ष में एक मशहूर बोल-कहावत है, जो यहाँ के रावल-महारावल व राणा-महाराणा जनों की वीर-गाथाओं के कारण तो है ही; साथ ही रानी पद्मिनी (पद्मावती) के सहस्त्रों क्षत्राणियों (राजपूतानियों) के साथ जौहर (प्रज्वलित अग्नि में कूदकर जीवित जल जाना) करने व सुख्यात प्रेम व भक्ति में डूबी मीराबाई की गीत व संगीत की अनुगूंज सुनाने के लिये भी सुप्रसिद्ध है। मैं विगत् 70 वर्ष से एक गीत सुनता, गुनगुनाता, सुनाता रहा जिसके बोल के बीच में कहा गया है- '

''चित्तौड़ तुम ही कह दे क्षत्राणियों के जौहर।
पद्मा के भस्म में है गौरव छिपा हमारा।।''

संभवत: 1954-55 ई. अथवा 56-57 ई. में फिल्म जागृति का एक गीत आज भी 15 अगस्त एवं 26 जनवरी में गूँजता है-''यह है अपना राजपूताना..... कूद पड़ी थीं जहाँ हजारों पद्मिनियाँ अंगारों पे........ वन्दे मातरम्। वन्दे मातरम्।''

चित्तौड़गढ़ दुर्ग को यूनेस्को ने वर्ष 2012 ई. में विश्व धरोहर सूची में शामिल कर लिया। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ए.एस.आई.) ने जिन सौ स्मारकों को आदर्श स्मारक बनाने के लिये चुना है, उनमें राजस्थान का चित्तौड़गढ़ किला भी शामिल है। इसके अन्तर्गत यहाँ पर्यटकों के अनुकूल सुविधाएँ विकसित की जाएँगी। यहाँ ध्यातव्य है कि ए.एस.आई. के स्मारकों की संख्या 3686 है, जिन्हें राष्ट्रीय स्मारक का दर्जा दिया गया है।

चित्तौड़गढ़ किला महाराजा चित्रांगद सिंह मौर्य के द्वारा स्थापित किया गया था, अत: इसका नाम था-'चित्रांगदगढ़' मानसिंह मौर्य (मानमोरी) से इसके अपने भान्जे रावल बप्पा (गुहिलोत)-ईडर के शासक ने उसकी (मानसिंह की) ऐतिहासिक भारी भूल व कायरता के कारण, इस चित्रांगदगढ़ को अपने आधीन किया तथा ईडर सहित मेवाड़ का शासक बना; राज्य भगवान एकलिङ्ग को समर्पित कर उनके रावल के रूप में शासन किया तथा राजस्थान, पंचनद प्रदेश, उपगणस्थान तक का सम्राट बने। बाद में मुखसुख से यही 'चित्तौड़गढ़' कहलाया। सन् 1303 ई. में दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के कारण, अन्तत: शाका एवं जौहर हुए; हजारों क्षत्रिय राजपूतों ने करो या मरो का प्रण कर शाका किया तथा 16 हजार राजपूत क्षत्राणियों ने जलती चिता में महल से कूदकर जौहर किया; रावल रतनसिंह ने युद्ध में बलिदान दिया और रावल शाखा का अन्त हो गया क्योंकि इस शाखा के सभी मारे गए; रतनसिंह की रानी पद्मिनी जो जैसलमेर के भाटी राजवंश के पुण्यपाल की राजकुंवरि थी और अपने अद्वितीय सौंदर्य व वीरता के लिये जानी जाती थी, ने जौहर का नेतृत्व किया। इस प्रकार रावल शाखा के अन्त हो जाने के कारण मेवाड़ अन्तर्गत 'सीसोदा' के राणा चित्तौड़गढ़ के सिंहासन पर विराजे और भगवान एकलिङ्ग के दीवान घोषित होकर शासन चलाया। बाद में दो और शाका और जौहर हुए, जिनका गवाह है यह गढ किला। किले को एक ऐतिहासिक नगरी मान सकते हैं, जिसकी ऊँची-ऊँची दीवारों के भीतर ही आबादी की जरूरतों से जुड़ी संरचनाएँ बनी हुई हैं। यहाँ प्रमुख रूप से दर्शनीय हैं-मछलीनुमा चित्तौड़गढ़, विजयस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, भक्त मीरा बाई मंदिर, महाराणा कुम्भा का महल, रानी पद्मिनी का महल वगैरह। किला परिसर में स्थित जैन मन्दिर में भगवान ऋषभ देव की काले पत्थर की मूर्ति, जिन्हें मेवाड़ की भील जनजाति 'काला देव' मानकर बड़ी श्रद्धा व आस्था के साथ पूजती है, दर्शनीय है। चित्तौड़गढ़

किले में रानी पद्मिनी के नाम से भी एक महल है, जो गढ़ में दक्षिण दिशा में निर्मित कमल सरोवर के पीछे स्थित है। गोमुख (गऊमुख) जलाशय चित्तौड़गढ़ का प्रमुख आकर्षण है। हरे रंग का यह जलाशय आस्था का केन्द्र भी है। चित्तौड़गढ़ नगर को गढ-किला से देखना अच्छा लगता है। पहाड़ से नगर का विहंगम दृश्य मन भावन है। चित्तौड़गढ़ की प्रसिद्धि का विस्तार अनन्त है। उदयपुर-जयपुर रेल मार्ग पर चित्तौड़गढ़ रेलवे स्टेशन है। शहर से स्टेशन के भीतर के प्रवेश द्वार पर स्थित गेट पर लिखा है 'मीरा बाई द्वार'। नजदीकी हवाई अड्डा उदयपुर ही है। उदयपुर से चित्तौड़गढ़ होकर जयपुर सड़क मार्ग है। उदयपुर से टैक्सी से यहाँ पहुँचने में लगभग दो घण्टे लगते हैं। यहाँ की गर्मी की तपिश हर कोई सहन नहीं कर सकता, अत: पर्यटकों को सर्दी में यहाँ की सैर करनी चाहिए।

महाराणा हम्मीर, महाराणा कुम्भा, महाराणा सांगा (संग्रामसिंह), महाराणा प्रताप की स्मृतियों को संजोए हुए है चित्तौड़गढ़। वीर, साहसी महाराणाओं ने न केवल इस नगर पर राज किया बल्कि इसे दूरदर्शिता के साथ सजाया-संवारा भी। चित्तौड़गढ़ ने तीन बड़े आक्रमण देखे, शाके और जौहर देखे, वीरों सहित सामान्य प्रजा का कत्लेआम भी देखा। यहाँ की हर गली, हर कूचा, पूरा परिवेश आज भी वीरों की इन गाथाओं को बयान करता है।

चित्तौड़गढ़ दुर्ग 700 एकड़ में फैला हुआ विशाल है जिसकी परिधि लगभग 13 किलोमीटर की है। किले की अधिकतम लम्बाई 5 किलोमीटर है। मछलीनुमा है चित्तौड़गढ़, मछली के आकार वाले इस दुर्ग में पहुँचने के लिये पूरे सात दरवाजे पार करने होते हैं। इन दरवाजों को यहां 'पोल' कहा जाता है। भैरवपोल, पाण्डवपोल, गणेशपोल, हनुमानपोल, लक्ष्मणपोल, रामपोल और जोड़ला पोल। नीचे से ऊपर आने के लिये चौड़ा गलियारा है जो दोनों ओर ऊँची दीवारों से घिरा है। ऊपर सर्पिले रास्ते हैं।

दुर्ग में बनी हवेलियाँ, महल, कुण्ड और विशाल मंदिरों के वैभव की झलक खण्डहर में परिवर्तित हो चुकी विशाल संरचनाओं से मिलती है। फतेह प्रकाश पैलेस में लोगों की जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिये उस कालखण्ड की उत्कृष्ट धरोहरों का एक अमूल्य संग्रह सुरक्षित रखा गया है। इस संग्रहालय में पुरातात्विक महत्त्व के कुछ दुर्लभ नमूने संरक्षित हैं। उनमें मौर्य एवं गुप्त काल से लेकर जैन एवं सनातन (हिन्दू) संस्कृति से जुड़े शिलालेख और मूर्तियाँ तक सम्मिलित हैं। इस संग्रहालय का रख-रखाव भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग करता है। यह संग्रहालय शुक्रवार को बन्द रहता है।

विजय स्तम्भ : यह जीत का जीवन्त प्रतीक है। चित्तौड़गढ़ की पहचान के रूप में सुविख्यात 'विजय स्तम्भ' आज भी गवाह है उन वीर योद्धाओं के पराक्रम का, जिन्होंने अपने प्राणों की आहुति देकर मेवाड़ का मस्तक कभी झुकने नहीं दिया। इसका निर्माण महाराणा कुम्भा ने करवाया था। जब उन्होंने मालवा के सुल्तान महमूदशाह खिलजी को पराजित किया तब इस जीत की स्मृति को जीवित रखने के लिये नौ खण्डों में बने इस विशाल स्तम्भ का निर्माण कराया। महाराणा कुम्भा ने विजय स्तम्भ को अपने आराध्य देव भगवान विष्णु को समर्पित किया। इस स्तम्भ की दीवारों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं। इसकी ऊँचाई लगभग 122 फीट है और यह एक विशाल चबूतरे पर बनाया गया है। विजय स्तम्भ सुनहरे पत्थर की उत्कृष्ट कृति है। इसमें कहीं भी ईंट व चूने का प्रयोग नहीं हुआ है। सात मंजिल (तल) की संरचना एक जैसी है। आठवीं मंजिल अलग है, जिसकी सुन्दर बारह छतरियों का विस्तार इसे भव्यता प्रदान करता है। इसे बनाने में 20 वर्ष का समय लगा था।

कीर्ति स्तम्भ : दुर्ग के भीतर विजय स्तम्भ जैसी एक और दर्शनीय टॉवरनुमा (*Towntype*) संरचना देखने को मिलती है। यह 'कीर्तिस्तम्भ' है। माना जाता है कि इस स्तम्भ का निर्माण ईस्वी सन् की 12वीं शताब्दी में एक जैन व्यापारी जीजा भागरे वाला ने करवाया था। इस स्तम्भ की ऊँचाई 22 फीट है। यह संरचना चालुक्य स्थापत्य कला के आधार पर बनी प्रतीत होती है।

मीराबाई का मन्दिर– चित्तौड़गढ़ की धरती इतिहास की कुछ न भुलाई जा सकने वाली वीरांगनाओं व भक्तिमति नारी संतों के त्याग की गवाह भी है। अगर चित्तौड़गढ़ का पर्याय रानी पद्मिनी को माना जाता है तो गिरधर गोपाल की दीवानी मीराबाई जैसे व्यक्तित्व का सम्बन्ध भी इसी स्थान से है (प्रथम थी भाटी कुल की तो दूसरी थी राठौड़ कुल की)। यहाँ मीराबाई को समर्पित संरचना भी है, जिसका नाम 'मीराबाई मन्दिर' है। इसका निर्माण भी महाराणा कुम्भा (कुम्भकर्ण सिंह) ने ही करवाया था। मन्दिर की वास्तुकला मीराबाई के जीवन से प्रेरित ज्ञात होती है। इस मन्दिर की मुख्य संरचना एक ऊँचे चबूतरे पर बनी है, जो कि राजपूती स्थापत्य कला की विशेषता है। मुख्य गर्भगृह के ऊपर मन्दिर की विशाल छत है। गर्भगृह के ऊपर मंदिर का मुख्य गुम्बद व प्रांगण में भी कई गुम्बद हैं। मन्दिर नागर शैली-सा दिखता है। मन्दिर के गर्भगृह में मीरा के प्रभु गिरधर नागर विराजमान हैं। भीतर भगवान की प्रार्थना में लीन मीराबाई के चित्र हैं। मन्दिर के भीतर एक छोटी छतरी मीराबाई के संरक्षक व गुरु संत स्वामी रविदास को समर्पित है। मन्दिर के नीचे पक्के जमीन पर संत रविदास के पदचिह्न भी हैं। झाली रानी भी गुरु रविदास की शिष्या थीं।

महाराणा कुम्भा महल : किले में स्थित सबसे प्राचीन संरचना है। महाराणा कुम्भा की गणना मेवाड़ के प्रतापी शासकों में से अग्रिम पंक्ति में होती है। एक शूरवीर होने के साथ ही वे बहुत बड़े शिव भक्त भी थे। वीर होने के साथ-साथ कला के प्रति उनका प्रेम उन्हें एक अद्वितीय शासक के रूप में स्थापित करता है। महाराणा कुम्भा के शासन में मेवाड़ का न केवल विस्तार हुआ, बल्कि इस काल में कुछ अद्भुत संरचनाएँ भी अस्तित्व में आईं। उन्होंने ही कुम्भलगढ़ का किला बनवाया था। किलों के निर्माण के अतिरिक्त महाराणा कुम्भा ने मन्दिरों का भी निर्माण करवाया। उनके शासन में कला, स्थापत्य, संगीत खूब फले-फूले। उनके द्वारा अर्जित सम्पत्ति का सदुपयोग महाराणा उदयसिंह व महाराणा प्रताप ने भी किया, जिस कारण इन्हें कभी भी आर्थिक कष्ट नहीं हुआ। महाराणा कुम्भा का निवास स्थल रहे महल की भव्यता उनके शौर्यपूर्ण और शानदार व्यक्तित्व का भी जीता-जागता प्रमाण है। महल के अवशेष जो भी बचे हैं, उसे ही देखकर उसकी भव्यता का पता चलता है।

अगर पर्यटक यह सोचते हैं कि राजस्थान में प्राकृतिक सौंदर्य की कमी है तो चित्तौड़गढ़ के निकट मेनाल गाँव अवश्य पहुँचे, जहाँ आपकी धारणा बदल जाएगी। मेनाल गाँव में एक विशाल जल प्रपात है, जो पूरे वेग से 50 फीट की ऊँचाई से गिरता है। इसकी छटा देखते ही बनती है। यह चित्तौड़गढ़ जिले के बेगूं क्षेत्र में स्थित है और जिला मुख्यालय से 86 कि.मी. की दूरी पर बूंदी-कोटा मार्ग संख्या 27 पर स्थित है। यह स्थान वर्षा-काल प्रारम्भ होते ही अनुपम छटा बिखेरता है। सफेद दूध-सी निर्मल जलधारा और जंगल का नैसर्गिक सौंदर्य इतना लुभावना है कि पर्यटक एक बार पुनः वहाँ पहुँचना चाहते हैं। इस स्थल की प्रशंसा माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी भी अपनी मन की बात कार्यक्रम में कर चुके हैं। मेनाल एक ऐसा रमणीक स्थल है, जो प्रकृति के साथ-साथ पुरातात्विक और ऐतिहासिक महत्त्व भी रखता है। यहाँ कई प्राचीन मन्दिर हैं, जैसे- महानालेश्वर मन्दिर, जिसका निर्माण ईस्वी सन् की 12वीं शताब्दी में सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने करवाया था।

चित्तौड़गढ़ से लगभग 25 कि.मी. दूर है बस्सी गाँव जो लकड़ी (काष्ठ) के खिलौनों के निर्माण के लिये सुख्यात है। बस्सी गाँव की संस्कृति लकड़ी के खिलौनों के माध्यम से पूरी दुनिया में पहुँचती है। गाँव के लोग अपनी प्राचीन धरोहरों को जीवित रखे हुए हैं। वे लकड़ी के पोर्टेबल कपाटों में चित्रों के माध्यम से पौराणिक कथाओं को संजोने का काम करते हैं। इनके पोर्टेबल मन्दिर बेहतरीन आर्ट वर्क माने जाते हैं। राजस्थान की लोककथाओं के पात्र जिन्हें कठपुतली के रूप में जाना जाता है, यहाँ आकार लेते हैं। गाँव के लोग पूरी तन्मयता से लकड़ियों को खिलौने का स्वरूप कैसे देते

हैं, यह पूरी प्रक्रिया पर्यटक यहाँ पहुँचकर निकट से देख सकते हैं।

बस्सी गाँव पहुँचकर ''बस्सी वाइल्डलाइफ सैंक्चुअरी'' देखना व घूमना आनन्ददायक है, साथ ही रोमांचक भी। विन्ध्याचल पर्वतश्रेणी के 15,290 हेक्टेयर क्षेत्र में फैले इस वन्यजीव अभयारण्य में कई दुर्लभ वनी जीव हैं। बस्सी में कई पुरातात्विक महत्त्व के स्थल हैं। यहाँ बस्सी फोर्ट भी है, जिसे होटल में परिवर्तित कर दिया गया है। गाँव के निकट दो बड़े जलाशय हैं, जहाँ पर्यटक नौका विहार का आनन्द उठा सकते हैं। बस्सी गाँव में दर्शनीय बहुत कुछ है।

पूरी दुनिया में मात्र सीतामाता वाइल्ड लाइफ सैंक्चुअरी ही वह स्थल है, जहाँ उड़ने वाली गिलहरियों के दर्शन होते हैं। यह चित्तौड़गढ़ से 95 कि.मी. दूर है। यह पूरे देश में अनोखी है। उक्त अभयारण्य वनी जीवों का है, जो दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित प्रतापगढ़ में है। तीन अलग-अलग पर्वत शृंखलाओं, जैसे-मालवा का पहाड़, विन्ध्याचल पर्वत माला और अरावली पर्वत शृंखला के संग्राम स्थल पर बने होने के कारण सीतामाता वाइल्डलाइफ सैंक्चुअरी अनोखी जैव विविधता लिये हुए है। इसके निकट छोटे-छोटे गाँव भी अवस्थित हैं। चित्तौड़गढ़ का घेवर एवं प्याज की कचौड़ी तथा मालपुआ, दाल-बाटी, देशी घी का चूरमा बहुत प्रसिद्ध है।

✲

पृष्ठ 12 का शेष

आध्यात्मिक रूपान्तरण

देवता में रूपान्तरित हो सकता है, जो हमारा अव्यक्त स्वरूप है; तथा अनन्त: हम परमात्म-साक्षात्कार के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।

पूर्ववर्ती अध्यायों में हम अपने स्वभाव की शुद्धि के लिये आवश्यक विभिन्न साधनाओं का वर्णन कर चुके हैं। अब क्षणभर के लिये देखने का प्रयत्न करें कि सत्त्वगुण की अधिकाधिक वृद्धि से क्या होता है? नैतिक और आध्यात्मिक साधनाओं से उपलब्ध पवित्रता में, सत्त्वगुण में, प्रतिष्ठित व्यक्ति के लक्षण निम्न हैं : उसकी देह हल्की हो जाती है, तथा उसका देहात्मबोध कम हो जाता है। इन्द्रियों के सतेज और सबल होने से संतुलन में वृद्धि होती है, मन पूर्ण सजग रहता है और शुद्ध बुद्धि में आनन्द उमड़ पड़ता है। एक नई आध्यात्मिक चेतना का उदय होता है। आत्मा परमात्मा के प्रति सचेत हो जाती है। कहानी का नीचे वाला पक्षी नित्य-साक्षी ऊपर वाले पक्षी के प्रति सजग हो उठता है। अहंकार, मन, इन्द्रियों और देह के साथ मिथ्या तादात्म्यों से छुटकारा पाकर आत्मा चेतना के उच्चतर स्तरों पर आरोहण करती हुई अन्त में परमात्मा के साथ एक हो जाती है। आध्यात्मिक प्रयास की यहाँ परिसमाप्ति होती है। उपनिषद् घोषणा करता है :

यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्ण कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति।।

अर्थात्, ''जब द्रष्टा ज्योतिर्मय जगत्कर्ता, ईश्वर, ब्रह्मयोनि, परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब वह विद्वान पाप और पुण्य से मुक्त हो, निरञ्जन, परम साम्य को प्राप्त करता है।'' और श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं : ''समस्त कल्मषों से रहित तथा द्वन्द्वों से मुक्त, संयत मन और इन्द्रियों से युक्त तथा समस्त प्राणियों के कल्याण में रत ऋषि ब्रह्म के साथ एक हो जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं।'' यह एक देवमानव का आदर्श है। इस महान आदर्श की उपलब्धि के लिये हमें अपने जीवन का रूपान्तरण करना चाहिए। आध्यात्मिक आदर्श हमारे लिये सदा ''आदर्श'' ही बना नहीं रहना चाहिए। साधना सदा के लिये यंत्रवत्, अन्यमनस्क भाव से की जाने वाली ''साधना'' ही नहीं बनी रहनी चाहिए। उसे हमारे जीवन को परिवर्तित करना चाहिए। हमारा जीवन रूपांतरित होना चाहिए। एक न एक दिन हमें भी देवमानव की पवित्रता, दिव्य चेतना, और प्रेम की उपलब्धि होनी चाहिए।

विचार-सरिता

(चत्वारिंशत् लहरी)

– *विचारक*

इस सृष्टि में पांच अंश विद्यमान हैं। पांच अंशों के मिश्रण का नाम जगत है। इस भासित जगत के पांचों अंशों में तीन अंश ब्रह्म के तथा दो अंश माया के हैं। तीन अंश ब्रह्म के जो हैं वे सदैव ज्यों के त्यों बने रहते हैं तथा दो अंश जो माया के हैं वे बदलते रहते हैं। वेदान्त-गत शास्त्र वृत्तिप्रभाकर में पहला ही दोहा कह रहा है-

अस्ति भाति प्रिय सिन्धु में नाम रूप जंजाल।
जिंहिं लखि निज आतम तत्व व्है तत्काल निहाल।।

अस्ति नाम 'है' का है जिसे सत् भी कहा जाता है। भाति नाम प्रकाश का जिसे चित्त यानी चेतन भी कहा जाता है। प्रिय नाम आनन्द का है, अर्थात् जो आनंदघन है। ऐसे ये तीन अंश तो ब्रह्म के कहे गए हैं। ब्रह्म का तात्पर्य उस व्यापकता से है जो अनन्त, असीम और एकरस है। उस ब्रह्म के ये तीनों अंश अपरिवर्तनशील हैं, जो स्वभावत: सदैव सच्चिदानंदमय हैं। शेष दो अंश माया के हैं जो परिवर्तनशील होने से मिथ्या कहे गए हैं। जिन्हें यहाँ नाम व रूप से कहा गया है।

चीनी से निर्मित खिलौनों में अस्ति, भाति व प्रिय रूप से चीनी है जो अपना स्वभाव बदलती नहीं परन्तु उन खिलौनों के नाम व रूप बदलते रहते हैं। चीनी से बनी हुई गेंद, हाथी, घोड़ा व महल आदि की आकृति व नाम चीनी के गलने पर बदल जाते हैं तथा उस चीनी से अन्य आकृतियों व नाम में परिवर्तित किया जा सकता है। परन्तु वहाँ चीनी 'है' चीनी की प्रतीति हो रही है यह भातिपना व चीनी मीठी है यह प्रियपना कभी भी बदलता नहीं। ऐसे ही स्वर्ण से निर्मित आभूषणों में स्वर्ण 'है' स्वर्ण प्रतीत हो रहा है अर्थात् उसका भातिपन व स्वर्ण सबको प्रिय लगता है अर्थात् उसका प्रियपना ज्यों का त्यों बना रहता है। चाहे स्वर्ण को कितनी ही बार गलाकर आकृतियाँ बदल दो पर अस्ति, भाति व प्रियपना ज्यों का त्यों रहेगा व नाम व रूप उसमें बदलते रहते हैं।

ऐसे ही ब्रह्म के ये तीनों अंश जिन्हें सत्-चित्-आनंद भी कहा जाता है, ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। इनमें अध्यस्त दो अंश माया के हैं अत: नाम व रूप परिवर्तनशील है। इसीलिए तो संसार के समस्त दृश्यों को जैसा हम प्रथम क्षण में देख पाते हैं, दूसरे क्षण में वह वह नहीं है जो प्रथम क्षण में था। जगत में इसी कारण से परिवर्तन जो है वह सतत् चलता ही रहता है। साधक की दृष्टि ब्रह्मविषयनी होनी चाहिये। उसकी दृष्टि में नाम रूप से भासित पदार्थ मायावी होने से मिथ्या हैं ऐसा जानकर केवल उनमें जो अस्ति, भाति, प्रिय रूप से जो ब्रह्मतत्व है वही वास्तविक है ऐसा जानकर व्यवहार करना चाहिये। बाधस्वरूप दो मायावी अंशों का बाध करके उनका अधिष्ठान स्वरूप परमात्मा में हमें अपनी वृति को जोड़ना है।

हम सभी का वास्तविक स्वरूप ***सच्चिदानंदघन*** है। इसको ठीक से समझकर देह के नाम व आकृति को बाध देते हुए ***त्रिकालअबाध्य*** स्वरूप आत्मा में स्थिति करनी है। जिससे हमें जो मरण का भय है उससे मुक्ति मिलेगी और हम अभयपद को प्राप्त होंगे। अब सत्, चित् व आनंद आत्मा के इन तीनों विशेषणों को समझने का प्रयास करते हैं। सत् उसे कहते हैं जो निरंतर ज्यों का त्यों बना रहे। दूसरे शब्दों में वेदान्तगत भाषा में इसे त्रिकालअबाध्य वस्तु भी कहा गया है। भूत, भविष्य और वर्तमान में जिसका ज्ञान द्वारा बाध न हो वह सत् है। हम यदि भूतकाल पर नजर डालें तो भूतकाल इतना लम्बा है कि हम कुछ भी करके उसके मूल तक पहुँच ही नहीं सकते। हमारी क्या, दोनों के गुरु बृहस्पति व ब्रह्माजी आदि की बुद्धि भी अतीत के छोर को नहीं पा सके। ऐसे अन्तहीन भूत और भविष्य के बारे में किसी की बुद्धि पार पा ही नहीं सकती कि वह कितना लम्बा है। ऐसे तीनों कालों के परिवर्तनकाल में भी जो तत्व एकरस रहता है तथा जिसकी उपस्थिति का कभी अभाव होता ही न हो, उसे सत् कहते हैं।

सत् की ही तरह जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है और बुद्धि आदि जिसे जान नहीं सकते पर बुद्धि आदि को जो जानता है वह चित् कहलाता है। यहाँ ज्ञान का अभिप्राय जानने से है। भूत और भविष्य का अन्तहीन होने का जो

बोध है वही यहाँ चित् या भाति कहा गया है। भाव-अभाव व इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सबको जो जानता है अर्थात् वे प्रखरता से कार्य करते हैं तब भी और मन्दता से कार्य करते हैं तब भी तथा इनमें से कौनसा पुर्जा सक्रिय है और कौनसा निष्क्रिय है इसका बोध करने से हमारी आत्मा को चित् यानी अलुप्त प्रकाश अर्थात् ज्ञान कहा गया है।

जो सर्व दु:खों से रहित है, उसे आनंद कहते हैं। तीन ही काल में जिसमें कभी दु:ख व्याप्त ही न होता हो, उसे आनन्द कहते हैं। सुख-दु:ख या हर्ष-शोक, यह मन का कार्य है। मन जिसमें अनुकूलता अनुभव करता है वह परिस्थिति सुखरूप प्रतीत होती है और मन जिस परिस्थिति में प्रतिकूलता अनुभव करता है वह परिस्थिति उसके लिये दु:ख रूप हो जाती है। परन्तु आनन्द जो है वह आत्मा का विषय है। वह आनंदमय है। घन का अभिप्राय यहाँ यह है कि आत्मा का सत्पना, चित्पना व आनंदपना कभी भी लुप्त नहीं होता। किसी भी देश, काल, परिस्थिति में हम देखें तो जिसमें ये तीनों अंश विद्यमान रहे उसे ही सच्चिदानंदघन कहा जाता है। ऐसा सत् चित् आनंद स्वरूप हमारा आपा है। हमारे ही स्वरूप के अज्ञान के कारण हम नाम व रूप से प्रतीयमान देह में अहं बुद्धि करके इसे ही अपना 'मैं' मान रहे हैं इसलिए आनंदघन होते हुए भी अपने में दु:खी हो रहे हैं। जब शरीर को ही 'मैं' मान लिया और इसी में अहंता-ममता हो गई तो जन्म, मृत्यु, हर्ष, शोकादि का भी अपने में आरोप करके हम सुखरूप होते हुए भी दु:खी हो रहे हैं। उल्टा बोध अर्थात् अविद्या ही इसका कारण है कि न होती वस्तु की अनुभूति हो रही है। अविद्या की निवृत्ति व परमानंद की प्राप्ति का हेतु ब्रह्म ज्ञान है।

ब्रह्मज्ञान की अनुभूति का स्रोत है सद्गुरु। साधन चतुष्टय सम्पादित करके वह अधिकारी शिष्य जब गुरु की शरण में जाता है और श्रद्धापूर्वक जब गुरुमुख से तत्वमसि आदि महावाक्यों का श्रवण करता है तथा किये गए श्रवण का मनन व निदिध्यासन करके तत् त्वं का शोधन करता है तब उसे ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि होती है। जिससे जीव व ब्रह्म का एकत्व निश्चय करके वह जिज्ञासु निर्भय पद को पा जाता है। अनादिकाल से चले आ रहे अज्ञान के कारण असंभावना व विपरीत भावना आदि दोषों के रहते ज्ञान स्पष्ट न होने के कारण स्वरूप निरावरण नहीं होता अर्थात् उसका आवरण भंग नहीं होता। इसलिए समर्थ गुरु द्वारा प्रक्रिया को अर्थात् आत्मा-अनात्मा की छानबीन को अच्छी तरह समझकर संशय से रहित हो जाना चाहिये। इसी का नाम वेदान्त श्रवण है। शिष्य को चाहिये कि गुरु और वेद वाक्यों में श्रद्धापूर्वक निष्ठा रखते हुए किया गया श्रवण ही मनन और निदिध्यासन योग्य होता है। यदि श्रवण काल में संशय नहीं छूटा है तो वह मनन व निदिध्यासन करेगा ही किसका। आवरण भंग की यही रीति है। अज्ञान की निवृत्ति और आवरण भंग होने से ही स्वरूप की अनुभूति होती है। उसी अनुभूति के प्रकाश में अन्त:करण सहित समस्त प्रपञ्च उसी प्रकार विलय हो जाता है जैसे सूर्य उदय होने पर चन्द्र और तारागण आदि। अधिष्ठान का ज्ञान ही अध्यस्त की निवृति है। मिथ्या सर्प की प्रतीति की निवृत्ति के लिये उसके अधिष्ठान स्वरूप रज्जू का ज्ञान आवश्यक है ऐसे ही नाम-रूप से भासित इस संसार की निवृति का हेतु अधिष्ठान स्वरूप हमारी आत्मा ही है। उस स्वरूपभूत आत्मा का बोध होते ही यह संसार उसी में विलय हो जाता है।

स्वप्न का अस्तित्व तभी तक है जब तक जाग न आ जाय। पुरुष के जगते ही स्वप्न के समस्त दृश्य नहीं में बदल जाते हैं। ऐसे ही स्वरूपानुभूति की जाग्रति होते ही देह प्रपञ्च का बाध हो जाता है। इस स्वरूपानुभूति का नाम ही जीवनमुक्ति है। ऐसी स्थिति में उस महापुरुष की वृत्ति ब्रह्माकार बन जाती है और वह विलक्षण अवर्णनीय आनंद में डूबा रहता है। गुप्तसागर में गुप्तानंद जी महाराज लिखते हैं कि-

जीवनमुक्त भये जग में जिन आतम पूर्ण ब्रह्म निहार्‌या।
पिण्ड रू प्राण के संयोग हुते संचित और आगामी को जार्‌या।।
शुष्क तृणवत भ्रमत है तन, इष्ट अनिष्ट अदृश्य अधार्‌या।।

ऐसी स्थिति के धनी महापुरुषों के चरणों में मेरा श्रद्धावत प्रणाम।

ओम् नम: शिवाय! ओम् नम: शिवाय!! ओम् नम: शिवाय!!!

कैसे सम्भव है प्रगति

– प्रेषक : चैनसिंह दूधवा (खुर्द)

प्रगति का पहला सूत्र है-***अपने आपको देखो।*** जो स्वयं को नहीं देखता, वह दूसरों को देखता है। दूसरों को देखने से क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, ईर्ष्या, दोषारोपण, कलह, निन्दा के भाव जन्म लेते हैं। ये सब प्रगति से विमुख करने वाले तत्त्व हैं।

प्रगति का पहला सूत्र है-'अपने आपको देखो। स्वयं को देखो।' अपने आपको देखो, इसका अर्थ है- चेतना की गहराई में प्रवेश करो, अन्तस्तल की गहराई में गोते लगाओ और भीतर जो कुछ छिपा पड़ा है, उसे अनावृत करो, बाहर लाओ और उपयोग करो।

अपने आपको देखने वाला सचमुच प्रगति के पथ पर आगे बढ सकता है। महानता अन्तस्तल में छिपी रहती है, क्षुद्रता सतह पर रहती है। प्रत्येक व्यक्ति में महानता होती है, पर वह सदा छिपी रहती है। जो चेतना की गहराई में गोता नहीं लगाता, वह महानता को उपलब्ध नहीं हो सकता।

महानता के बाधक तत्व :- जो व्यक्ति अपने आपको नहीं देखता, वह दूसरों को देखता है, दूसरों को देखना महानता की अनुभूति की सबसे बड़ी बाधा है। क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, ईर्ष्या, निन्दा, दोषारोपण, कलह ये सब महानता के बाधक तत्त्व हैं। ये सब दूसरों को देखने से फलित होते हैं। जो दूसरों को कम देखता है, उसे क्रोध कम आएगा। जो दूसरों को अधिक देखता है उसे क्रोध अधिक आएगा। नौकर ने काम ठीक नहीं किया, क्रोध से उबल पड़ेगा। सहयोगी ने काम ठीक नहीं किया, चेहरा तमतमा उठेगा। जब-जब आदमी दूसरों को देखता है और जब-जब उसकी रुचि टकराती है, तब गुस्सा उभर आता है।

अहंकार भी दूसरों को देखने से आता है, अहंकार छोटों पर आता है। जब व्यक्ति दूसरों को अपने से छोटा देखता है तब अहंकार पैदा होता है। वह अनुभव करता है-इसके पास कुछ नहीं है। इसके पास कहाँ है ज्ञान? इसकी जाति का महत्त्व ही क्या है? इसके पास कहाँ है वैभव और सत्ता? मेरी जाति कितनी बड़ी है। ऐसी तुलना में अहंकार जागता है। और जब आदमी अपनों से बड़ों को देखता है, तब उसमें हीन भावना जाग जाती है। यह अहंकार का दूसरा पहलू है। एक पहलू अहंभावना और दूसरा पहलू हीनभावना। अपने से बड़ों को देखने पर हीन भावना तो छोटों को देखने पर अहं भावना जाग जाती है।

माया भी दूसरों को देखने का परिणाम है। माया अपने आप में होती नहीं। किसी को ठगने से माया करनी पड़ती है। ठगने का प्रश्न न हो तो न छल होता है, न कपट होता है। जो दूसरों को देखता है, जहाँ दूसरों को ठगने का प्रश्न है, वहाँ माया करनी पड़ती है। वहाँ बड़ा कपट करना पड़ता है। लोभ दूसरे के दर्शन से होता है, दूसरे के दर्शन से जागता है। जो पदार्थ को देखता है तो लोभ जागता है। परदर्शन के द्वारा ही लोभ का विकास होता है।

अपने आपको देखने वाला कलह नहीं कर सकता, दूसरों को देखने वाला कलह करता है। कलह दो में होती है, एक में होती ही नहीं। जो अपने आपको देखता है वह कलह कैसे करेगा, किससे करेगा। जब सामने दूसरे को देखता है तब तत्काल कलह की आग सुलग जाती है। कभी-कभी उसे कलह करने का मन हो जाता है। आक्रोश उभर आता है। प्रतिशोध की भावना जाग जाती है। प्रतिशोध और कलह भयंकर बीमारियों की तरह हैं। आज का मनोविज्ञान इस विषय में अनेक समस्याएँ हमारे सामने प्रस्तुत कर रहा है। प्रतिशोध अनेक शारीरिक बीमारियों का भी जनक है।

एक रोगी डॉक्टर के पास गया। डॉक्टर ने सभी परीक्षण किए पर रोग की जानकारी नहीं मिली। डॉक्टर ने रोगी को बताया कि परीक्षणों में रोग का कोई संकेत नहीं

है। तुम्हारा रक्त शुद्ध है। लीवर ठीक काम कर रहा है। शरीर के शेष अवयव भी स्वस्थ है। तुम्हें कोई रोग नहीं। रोगी निराश हो गया। अनेक बड़े-बड़े डॉक्टरों के दरवाजे खटखटाए। सभी से एक ही उत्तर मिला कि तुम स्वस्थ हो, तुम्हारे कोई रोग नहीं है।

अन्त में वह रोगी एक मनोचिकित्सक के द्वार पर गया। उस चिकित्सक ने उससे उसके जीवन सम्बन्धी गहरी पूछताछ की। जीवन की प्रत्येक घटना का विस्तार से ब्यौरा लिया। इस जानकारी से रोगी के रोग का मूल कारण ज्ञात हो गया। रोगी के दादा को किसी ने तिरष्कृत किया था, अपमानित किया था। रोगी यह सब देख रहा था। वह उस अपमानजनक स्थिति को सहन नहीं कर सका। उसका खून खोल उठा। उसके मन में एक गहरी गाँठ लग गई कि जब तक उस व्यक्ति से मेरे दादा के अपमान का बदला न ले लूँ, तब तक चैन से नहीं सोऊँगा, गांठ घुल गई। उसकी संवेदना तीव्र हो गई। घटना जब भी याद आती है, वह आपा भूल जाता है और ग्रंथि के प्रभाव में बड़बड़ाने लगता है और एक बीमार जैसा व्यवहार करने लगता है। चिकित्सक को रोग का मूल कारण ज्ञात हो गया। उसने रोगी से कहा-मैंने रोग को पहचान लिया है। इस पर कोई औषधि कारगर नहीं होगी। जब तक प्रतिशोध की ग्रंथि खुल नहीं जाती, तब तक तुम बीमार ही बने रहोगे। बदले की भावना जब तक तुम्हारे मन से निकल नहीं जाती, तब तक कितना ही उपचार करो, रोग मिटेगा नहीं। अनेक बीमारियाँ मानसिक दुर्बलताओं के कारण पनपती हैं।

चुगली भी दूसरों को देखने से ही पनपती है। आदमी दूसरों को देखकर कुढता है, तब चुगली पैदा होती है। अपने आपको देखने वाला किसी की चुगली नहीं कर सकता। वह चुगलखोर नहीं बनेगा। बड़ा खतरनाक होता है चुगलखोर। वह दो व्यक्तियों को परस्पर भिड़ा देता है और स्वयं तटस्थ रहकर तमाशा देखता रहता है। वह ऐसी बात कहता है कि दोनों व्यक्तियों के मन फूट जाते हैं।

निन्दा भी दूसरों को देखने से होती है। जो स्वयं को देखता है, वह किसी की निन्दा नहीं कर सकता। जब-जब आदमी दूसरों को देखता है, उसकी नजर दूसरे की कमजोरियों पर जाती है, उसकी बुराइयों पर जाती है, दूसरे की अल्पताओं और हीनताओं को देखता है, तब तत्काल निन्दा करने लग जाता है।

महानता में बाधा डालने वाले ये तत्त्व पर-दर्शन से प्राप्त होते हैं। यदि आत्मदर्शन, स्व दर्शन का अभ्यास बढ जाए और पर-दर्शन की बात गौण हो जाए तो ये तत्त्व अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

प्रगति का दूसरा सूत्र है- ***अपनी क्षमता पर आस्था, अपनी क्षमता को बढाओ।*** अक्षम एवं शक्ति-शून्य व्यक्ति कभी आगे बढ नहीं सकता। जिसे अपनी शक्ति के विकास में भरोसा नहीं है, जो अपनी शक्ति को नहीं बढाता, उसे स्वयं भगवान भी यदि सहारा देना चाहें, आगे बढ़ाना चाहें, तो भी वह आगे नहीं बढ सकता। आगे बढने के लिये स्वयं की शक्ति को विकसित करना ही पड़ता है। कोई चाहे कि वह जिलाधीश बने, मुख्यमंत्री बने, मुख्य सचिव बने तो कोई भी बन सकता है, इसके लिये कोई निषेध नहीं है किन्तु वही व्यक्ति बन सकता है जिसने अपनी शक्ति का तदनुकूल विकास कर लिया है। जिसमें शक्ति नहीं है, अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है, वह मात्र चाहने पर कुछ नहीं कर सकता।

अपनी उपयोगिता बनाए रखें। अपनी क्षमता का विकास होना चाहिए, इससे जुड़ी हुई बात है-अपनी उपयोगिता को बढाना। प्रगति वही कर सकता है, जो अपनी उपयोगिता को बढाता है। जो अपनी उपयोगिता को नहीं बढ़ाता, वह पिछड़ जाता है। साथ में नहीं चल सकता। आदमी के दिमाग में फिर एक ही विचार आता है कि मैं तो आगे बढ रहा था, उसने मुझे पीछे धकेल दिया। जहाँ प्रतियोगिताएँ होती हैं, वहाँ पिछड़ने वाला यही सोचता है कि अमुक ने मुझे पीछे छोड़ दिया। दुनिया में कोई किसी को पछाड़ने का प्रयत्न नहीं करता। जो प्रतियोगिता के लिये अपने आपको अधिक सक्षम बना

लेता है, वह आगे बढ जाता है। मुझे पीछे रख दिया यह शिकायत करने वाला स्वयं ही पिछड़ जाता है। इसलिए प्रगति का महत्त्वपूर्ण सूत्र है-अपनी उपयोगिता को बढाते रहो। देश-काल के अनुसार उपयोगिता बनाए रखें। यदि उपयोगिता न रहेगी तो आगे नहीं बढा जा सकता। अपनी उपयोगिता को बढाना, अपनी क्षमताओं को बढाना, निरन्तर उपयोगी बने रहना आवश्यक है। यह दुनियाँ स्वार्थी है, इस स्वार्थी दुनियाँ में अपनी उपयोगिता को खो देने वाला कोई भी व्यक्ति अपना मूल्य बनाए नहीं रख सकता। हम प्रगति के इस सूत्र को समझें और अपनी उपयोगिता को बढाते चलें, उपयोगिता को अनिवार्य बनावें।

प्रगति का तीसरा सूत्र है- ***सीमाबोध।*** व्यक्ति अपनी सीमाओं को समझे। इस संसार में शक्तिमान व्यक्ति होते हैं, पर ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं होता जो सर्वशक्ति सम्पन्न हो। शक्ति की सीमाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति की सीमा होती है। सीमातीत कोई नहीं होता। असीम और अनन्त कोई नहीं होता। हर व्यक्ति के साथ उसकी सीमा जुड़ी हुई है। जो अपनी सीमा को नहीं जानता वह प्रगति नहीं कर सकता। सीमा-बोध अत्यन्त आवश्यक है। हमारी शक्ति की सीमा, हमारे आनन्द की सीमा, हमारे सुख की सीमा, सब कुछ सीमित है। इस सीमा बोध की विस्मृति के कारण प्रगति का रथ उल्टा चलने लगता है। एक व्यक्ति को बुद्धि प्राप्त है। वह सोचता है, मुझे बुद्धि प्राप्त है तो मैं जितना चाहूं उतना धन इकट्ठा कर लूँ। व्यावसायिक बुद्धि से व्यक्ति धन-कुबेर बन सकता है। पर यदि वह इस सीमा को नहीं जानता कि एक आदमी अकूत धन इकट्ठा करता है तो दूसरों को इसका कितना कटु परिणाम भोगना पड़ता है। उसका धन-कुबेर बनना अन्यों के लिये खतरे में पड़ जाता है और वह ईर्ष्या का पात्र बन जाता है। इस सीमा-बोध के अतिक्रमण का परिणाम होता है-क्रांति, युद्ध, संघर्ष और लड़ाइयाँ। यदि सभी लोग अपनी सीमा में होते तो प्रगति का चक्र बहुत तेजी से घूमने लग जाता। एक की सीमा से परे प्रगति दूसरों के लिये प्रति गति बन जाती है। उनके पिछड़ेपन का कारण बन जाती है। तब कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हालांकि कुछ बुद्धिमान और व्यावसायिक बुद्धि कौशल से सम्पन्न लोगों को वैभव प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त है।

आज सारा संसार एक प्रकार की क्रांति के कगार पर खड़ा है। किसलिए? इसलिए कि देशों या व्यक्तियों द्वारा बुद्धि का उपयोग विषयों और सीमाओं से परे हो रहा है। सदुपयोग नहीं हो रहा। पर सीमा क्या हो? सीमा यह होनी चाहिए कि बुद्धि-शक्ति का उपयोग अपने सुख के लिये अवश्य हो, पर उससे दूसरों के सुख में बाधा नहीं पहुँचनी चाहिए। बुद्धि जहाँ इस सीमा को पार कर आगे बढती है वहाँ लड़ाइयों और क्रान्तियों के लिये मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अपनी प्रगति के लिये आवश्यक है- सीमा का बोध। जब सीमा-बोध की चेतना स्पष्ट हो जाती है, तब प्रगति की बाधाएँ समाप्त हो जाती है। प्रगति के लिये सीमा-बोध को मूल्य देना आवश्यक है।

लेखकों से निवेदन

लेखकों से निवेदन है कि वे स्वयं लिखित रचनाएँ ही प्रकाशित करवाने के लिये भेजें। आपको कोई अच्छी रचना पढने को मिली हो और आप सोचते हैं कि ऐसी रचना बहुत लोगों के लिये उपयोगी बन सकती है तो उसे भेज सकते हैं, पर उस रचना के लेखक के नाम से ही रचना भेजें। यदि लेखक का नाम उपलब्ध नहीं है तो संकलित रचना के नाम से भेजें।

- सम्पादक

प्रेरक कथानक

– संकलित

महाराज भर्तृहरि उज्जैन के राजा थे। बड़ा सम्पन्न राज्य था। एक समय राजा को रानी में दोष दिखायी पड़ा। संसार से बड़ी घृणा हो गयी, वैराग्य उदित हुआ। गुरु गोरखनाथ की शरण में पहुँच गये। गोरखनाथजी वस्तुतः महापुरुष थे। उन्होंने साधना का क्रम बताया और भर्तृहरि उसी में लग गये। पागलों की तरह, दिगम्बर वेश में, केवल एक कौपीन लपेटे दिन-रात भजन में संलग्न रहते थे। कभी दो उपवास, कभी तीन उपवास आये दिन की घटना थी। वे दिन में एक बार भिक्षा के लिये निकलते थे। जो स्वतः मिल जाता, स्वीकार कर लेते थे। किसी से न माँगने का उन्हें आदेश था।

एक दिन उनका मन करने लगा कि जलेबी मिलती तो खाते। अब जलेबी दे कौन? भाविक तो बहुत थे, लेकिन किसी को क्या मालूम कि महाराज जी को जलेबी खाने की इच्छा है। एक दिन भर्तृहरि हलवाई की दुकान पर जाकर खड़े हो गये कि कोई भक्त आ जाय और दिला दे; लेकिन भगवान भी बड़े कौतुकी हैं, लम्बी परीक्षा लेते हैं। किसी के मन में जलेबी का भाव ही न आये। महीना, दो-महीना बीत गया। जब भजन में बैठे तो जलेबी, ध्यान में बैठे तो जलेबी, नाम जपे तो जलेबी, भर्तृहरि परेशान हो गये।

एक दिन विवश होकर वे किसी निर्माणाधीन मकान में दिनभर मिट्टी ढोते रहे। सायं उनको कुछ पैसे मिले। मिट्टी से लथपथ हाथों से पैसा लिया। दौड़ते हुए हलवाई के पास गये, 'जलेबी' कहते हुए पैसा फेंका। दुकानदार ने टोकरी में जलेबी भरकर दे दी। सस्ती का जमाना था, काफी मिल गयी। मन कहा था-तुरन्त प्रारम्भ हो जाओ। भर्तृहरि ने मन को समझाया-'रे मन! तेरे कहने पर मैंने दिनभर मिट्टी ढोयी। देख तो! मिट्टी से सने हाथ हैं। इन्हें गंगा के किनारे धो तो लेने दे।' दौड़ते हुए गंगा के किनारे पहुँचे। हाथ-पाँव धोया। मन तो जलेबी पर था। रह-रहकर मुँह में पानी भर आता था। यह हो कि कितना शीघ्र जलेबी खा जायँ।

भर्तृहरि बैठकर विचार करने लगे-"ओह! ऐसी कौन-सी मिठाई थी जो हमने न खायी हो। केशर-कस्तूरी और मुहरों से छौंककर बनने वाली मिठाई हम खाते थे; किन्तु मैदे से बनने वाली साधारण जलेबियों के पीछे दुष्ट मन ने हमें गिरा दिया। ऐसा विचार आते ही भर्तृहरि जलेबियाँ लेकर बैठ गये। जलेबी मुँह तक ले जायँ-"बड़ी सुन्दर है। कैसी लाल-लाल कुरकुरी जलेबियाँ हैं। रस से ठसाठस भरी हैं।" इस प्रकार मन को ललचावें और एक-एक जलेबी पानी में फेंकते जायँ। जब अन्तिम जलेबी उठायी, पानी में फेंकने चले तो एक छाया सामने आकर खड़ी हो गयी। बोली-"यह हमको दे दीजिए।" भर्तृहरि ने पूछा-'तुम कौन!' वह बोली-"आपकी इच्छाशक्ति!" भर्तृहरि बिगड़े, "हरजाई कहीं की! घर छोड़ा, द्वार छोड़ा, ऐसा कौन-सा मिष्ठान था जिसे तूने न खाया हो? किन्तु इच्छा देवी! तूने मुझे अन्ततोगत्वा फाँसी दे ही दी। तूने मुझसे दिनभर मिट्टी ढुलवायी, भजन छुड़वाया, अभी तुझे जलेबी देंगे ही?" इच्छाशक्ति ने कहा-"हम एक जलेबी को खा लें। अब आपको किसी वस्तु की इच्छा नहीं होगी।" भर्तृहरि ने उस जलेबी को खा लिया, पानी पीया और चल दिये। उनकी साधना सुचारू रूप से चलने लगी। उनके जीवन में एक समय ऐसी ही घटना और घटित हुई। बनारस-जैसे पानप्रेमी शहर महोबा की गलियों में भर्तृहरि नंग-धड़ंग चले जा रहे थे। कागज के ऊपर किसी ने पान थूक दिया था। चाँदनी रात थी। लपझप-लपझप वह पीक चमक रही थी। भर्तृहरि ने सोचा-'यह तो मणि हो सकती है। करोड़पतियों का मुहल्ला है। किसी बड़े आदमी की गिर गयी होगी। कोई न कोई तो उठा ही लेगा। क्यों न मैं ही ले लूँ? किसी सेठ-साहूकार को दे दूँगा, उसी से जीवनयापन करते हुए भजन करूंगा।' मन विचलित हो गया। जहाँ हाथ लगाया, वहाँ वह पीक से भर गया। हथेली रंग गयी। रोशनी में देखा तो पश्चाताप करने लगे-'रे दुष्ट मन! तू राजा था, चक्रवर्तियों-जैसा तुम्हारा रहन-सहन था। कौन-सी मणि तुम्हारे सामने से नहीं गुजरी। अरे दुष्ट! तू त्यागी है, महापुरुष का अनुयायी है। भगवान के लिये तू सब कुछ त्यागकर कटिबद्ध था। एक मणि के प्रलोभन में हमें गिरा दिया।' कई दिन उन्होंने उपवास किया, मन को बहुत फटकारा, फिर उसमें सबलता आ गई। यही भर्तृहरि पूर्ण तपोधन हुए, जिन्होंने 'वैराग्यशतक' लिखा।

विचारों का महत्त्व

– प्रेषक : कुंवर मनोहरसिंह अकली

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। सृष्टि के समस्त जीवों में मनुष्य मात्र को ईश्वर ने यह वरदान दिया है कि वह सभी प्राणियों से श्रेष्ठ विचारक है। पशु-पक्षियों आदि में यह गुण नहीं होने के कारण उनमें सुख-दुःख, विकास-पतन आदि लक्षण नहीं होते हैं। केवल मानव मात्र ही यह योग्यता रखता है कि वह भले-बुरे, सुख-दुःख आदि का अनुभव कर सकता है। मानव में वैचारिक-चेतना होती है जबकि अन्य जीवों में यह विचार जड़त्व की भाँति होते हैं। यही कारण है कि मानव संसार के सभी जीवों में श्रेष्ठ प्राणी कहलाता है। इसी विचारक शक्ति के बल पर उसने इतना चहुंमुखी विकास किया है। उसके दिमाग में विचार आया कि वह पक्षी की तरह उड़ सकता है तो इस विचार के कारण उसने वायुयान बनाकर यह सपना पूरा किया। मछली की तरह तैरने की ईच्छा ने उसे समुद्र में डुबकियाँ लगाना सिखाया व तैरने की ईच्छा पूर्ण की। यह सभी उदाहरण उसकी विचारशक्ति के परिचायक हैं।

मानव जीवन में विचारों की बहुत ही अहम् भूमिका होती है। यूं कहें कि विचार ही मानव के निर्माण-पतन, सुख-दुःख का कारण कहे जा सकते हैं। सद् विचार अर्थात् उच्च एवं श्रेष्ठ विचार सदाचारी मनुष्य का निर्माण करते हैं इसके विपरीत बुरे विचार दुराचारी एवं दुष्ट मनुष्य बनाते हैं। मनुष्य के विचार बुरे एवं अच्छे दोनों प्रकार के होते हैं। मनुष्य का खानदान, वंश परम्परा, रहन-सहन का वातावरण, संगति आदि बातें उसके विचारों पर प्रभाव डालते हैं।

मनुष्य के विचार प्रतिक्षण बादलों की भाँति बदलते रहते हैं। अत: जो अपने विचारों को दृढ़ स्थायित्व प्रदान करता है, वह भी श्रेष्ठ एवं सद्विचारों को, तो वह सदाचारी अर्थात् सज्जन पुरुष बन जाता है, एक प्रकार से महापुरुष बन जाता है। महापुरुषों में एवं एक साधारण इंसान में अन्तर केवल विचारों का ही होता है क्योंकि महापुरुष अपने दिमाग में उच्च विचार, श्रेष्ठ विचारों को स्थान देता है जबकि एक आम आदमी अपने मस्तिष्क में केवल यही संजोए रखता है कि उसे खाना-पीना, सोना और मौज करना, इसके सिवाय वह कुछ सोचता ही नहीं है। किसी विद्वान ने ठीक ही तो कहा है कि जो व्यक्ति जैसा सोचता है वह वैसा ही करता है एवं जो जैसा करेगा वह वैसा ही बन जाता है। जिस मनुष्य के जैसे विचार होंगे वह वैसा ही आचरण, व्यवहार, बर्ताव करेगा। अच्छे विचार जहाँ मनुष्य के लिये स्वर्ग का द्वार खोलते हैं, वहीं बुरे विचार मनुष्य को नरक में धकेलने में सहायक होते हैं। यह ठीक ही कहा है कि-''मनुष्य भावों और विचारों का पुतला है, इन विचारों में परिवर्तन आने पर वह मनुष्य पहले जैसा नहीं रहता है।''

अत: हमें चाहिए कि अपने मस्तिष्क को श्रेष्ठ विचारों का सदन बनावें ताकि अपने समाज एवं अपने जीवन निर्माण तथा नव पीढ़ी के लिये प्रेरणास्वरूप कुछ प्रदान कर सकें एवं अपने जीवन को सार्थक बनावें।

*

तुम विचार के द्वारा भाग्य पर विजय प्राप्त करते हो। यदि तुम यह समझ लो कि मनुष्यों तथा संस्थाओं के भाग्य निर्माण में विचार ही एकमात्र कारण है तो तुम्हें हाथ में तलवार लेने की जरूरत नहीं पड़ेगी। जैसा विचार होगा, अनिवार्य रूप से वैसा ही परिणाम होगा।

– स्वेट मार्डेन

मारवाड़

– फूलसिंह लूणासर

मारवाड़ राज्य की स्थापना 13वीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी में कन्नौज सम्राट जयचन्द के वंशज राव सीहा ने की थी। सीहा ने पाली और भीनमाल पर अधिकार किया। बाद के मारवाड़ राज्य की यह बुनियाद थी। पाली से चौदह मील की दूरी पर एक लेख प्राप्त हुआ है, जिससे यह प्रकट होता है कि सीहा कुँवर सेतराम का पुत्र था और उसकी सोलंकी वंश की पार्वती नामक रानी थी। लेख का पाली के पास होने से भी यह प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ में राठौड़ों का राज्य विस्तार पाली के आस-पास ही सीमित था। राव सीहा पराक्रमी राजा था। राव सीहा के बाद उसके पुत्र आसथान ने राठौड़ों की शक्ति को मजबूत किया। परन्तु जलालुद्दीन खिलजी की फौजों के साथ लड़कर वह वीरगति को प्राप्त हुआ। फिर उसके उत्तराधिकारियों धूहड़, रायपाल, कर्णपाल, भीम आदि ने प्रतिहारों, भाटियों और तुर्कों से मुकाबला किया। बाद में जालणसी, छाणा और तीड़ा ने भी अनेक युद्ध किये और महोबा, भीनमाल एवं अमरकोट आदि प्रदेशों को मारवाड़ का हिस्सा बनाया।

राठौड़ों का प्रथम शासक बीरमदेव का पुत्र राव चूण्डा था। इसने धीरे-धीरे अपनी जागीर को बढ़ाया और सैनिक शक्ति को शक्तिशाली बनाया। राव चूण्डा को मण्डोर का किला दहेज में मिला जिसे उसने राजधानी बनाया। राव चूण्डा ने नागौर के सूबेदार को परास्त किया और तुर्की थानों को जीता। अपने बड़े भाई जयसिंह से फलौदी को छीन लिया। अन्त में चूण्डा की शक्ति कमजोर हो गई और भाटियों ने उससे नागौर छीन लिया और वह स्वयं युद्ध में मारा गया।

राव चूण्डा का उत्तराधिकारी राव रणमल था, जिसने बहिन हंसाबाई की शादी राणा लाखा से कर दी थी। लाखा की मृत्यु के बाद उसके पुत्र मोकल का शासन-भार रणमल पर आ पड़ा। उस समय वह मेवाड़ और मारवाड़ दोनों का स्वामी था। उसने जालौर पर भी अपना अधिकार कर लिया था। परन्तु 1438 ई. में चित्तौड़ के किले के सरदारों ने इसकी हत्या कर दी।

रणमल के बाद उसका पुत्र राव जोधा मारवाड़ का शासक बना। उसने मण्डोर के किले को जीतना चाहा और 15 वर्ष में उसे यह सफलता मिली। 1459 ई. में राव जोधा ने जोधपुर नगर बसाया और वहाँ के किले का निर्माण करवाया, जो 'मेहरानगढ़' के नाम से जाना जाता है। इसके एक पुत्र बीका ने बीकानेर बसाया।

राव जोधा के उत्तराधिकारी राव सातल और राव सूजा थे। इन दोनों ने अपने राठौड़ राज्य को विस्तारित करने का प्रयत्न किया। राव सातल ने अपने श्वसुर देवीदास से कुन्दल प्राप्त कर अपने राज्य को परिवर्द्धित किया। उसने अपने नाम से सातलमेर को बनाकर ख्याति अर्जित की। राव सातल ने अपने भाई बरसिंह को अजमेर के हाकिम मल्लूखाँ से छुड़ाने के लिये अजमेर पर चढ़ाई कर दी। बरसिंह को छोड़ दिया गया परन्तु मल्लूखाँ ने मेड़ता और जोधपुर पर आक्रमण किया जिसमें उसे भागना पड़ा परन्तु राव सातल की मृत्यु हो गयी। इधर बीका ने जो राव जोधा का पांचवां लड़का था, राजस्थान के उत्तरी भाग को विजयी किया और बीकानेर शहर बसाया। उसने आस-पास के इलाकों पर भी विजय हासिल की।

राव सूजा के बाद उसका पौत्र गांगा मारवाड़ का शासक बना। उसने राणा सांगा से मेल करके नागौर के शासक दौलत खाँ को हराया। उसके बाद मारवाड़ का महान शासक गांगा का पुत्र मालदेव हुआ। मालदेव सर्वाधिक दुर्धर्ष राजा था, जिसने उदयसिंह को मेवाड़ की गद्दी दिलवायी। बहादुरशाह के आक्रमण के समय मेवाड़ की सहायता की। मालदेव को शेरशाह की सेना का, जिसने हुमायूं को पराजित किया था, सामना करना पड़ा। शेरशाह ने युद्ध में धूर्तता से काम लिया। पठान तोपखाने

के आगे राजपूतों की तलवार न काम दे सकी। मारवाड़ की रक्षा में लड़ते जैता, कूंपा और दूसरे वीर सामन्त हजारों योद्धाओं के साथ खेत रहे। लेकिन युद्ध इतना भयंकर था कि विजेता को कहना पड़ा-''मैं मुट्ठी भर बाजरे के लिये हिन्दुस्तान का साम्राज्य करीब-करीब खो चुका था।'' मालदेव को अपनी राजधानी से हाथ धोना पड़ा, लेकिन उसने मृत्युपर्यन्त अधीनता नहीं स्वीकार की।

मालदेव के बाद उसका पुत्र राव चन्द्रसेन गद्दी पर बैठा। उसने भी अकबर के विरुद्ध लगातार युद्ध किये परन्तु जोधपुर अकबर के हाथ में चला गया। राठौड़ों की इस हार का कारण आपसी फूट थी। प्रताप की भाँति चन्द्रसेन भी एक दुर्दमनीय राजपूत योद्धा था जिसने ऐश्वर्यपूर्ण दासता के जीवन की अपेक्षा कठिनाइयों और कष्टों से भरा स्वतंत्र जीवन पसन्द किया।

महाराजा जसवन्तसिंह जो मारवाड़ के 25वें शासक थे, मुगल सम्राट शाहजहाँ के दरबार में बहुत ही सम्मानित थे; लेकिन औरंगजेब को उनसे नाराजगी थी। जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात औरंगजेब ने आदेश दिया कि उनकी रानियों और उनके पुत्र अजीतसिंह को दिल्ली लाया जाए। औरंगजेब ने बालक अजीतसिंह का पालन-पोषण एक मुसलमान लड़के की भाँति करने का प्रयास किया और जोधपुर में एक मुसलमान प्रशासक नियुक्त किया।

इस समय औरंगजेब के पंजे से युवराज की रक्षा करने के लिये महान योद्धा और सेनानी दुर्गादास राठौड़ सामने आए। मुगल सेना के साथ उनका घोर युद्ध हुआ, जिसमें जसवन्तसिंह की रानियाँ लड़ते हुए मारी गईं। लेकिन औरंगजेब के सिपाहियों द्वारा तेजी से पीछा किये जाने के बावजूद दुर्गादास अजीतसिंह को जोधपुर ले जाने में सफल हो गया। जोधपुर जाकर उसने मुगलों की मारवाड़ को हड़पने की कोशिशों को नाकाम करने के लिये मोर्चा संगठित किया। सारे मारवाड़ में विद्रोह फैल गया। इस युद्ध में उदयपुर के महाराणा राजसिंह भी सम्मिलित हुए। औरंगजेब के लिये राजपूतों की सम्मिलित शक्ति से लोहा लेना कठिन हो गया और उसने महाराणा से सुलह कर ली।

फिर भी राठौर दुर्गादास ने संघर्ष जारी रखा और जब औरंगजेब की मृत्यु हुई तो उसने अजीतसिंह को उसकी पैतृक गद्दी पर बैठाया। लेकिन तब भी महाराजा अजीतसिंह की स्थिति मजबूत न थी। बाद में उन्हें बहादुर शाह के साथ कुछ शर्तों पर सुलह करने को बाध्य होना पड़ा।

बाद के वर्षों में मारवाड़ का गृह-युद्ध के कारण विभाजन हो गया। मराठों ने भी इस क्षेत्र में लूट-पाट मचाई।

1803 ई. में मानसिंह मारवाड़ की गद्दी पर आरूढ़ हुए। मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णाकुमारी से विवाह करने के लिये उनमें और जयपुर के महाराज जगतसिंह के बीच लड़ाई हुई। मानसिंह ने अपनी सहायता के लिये अमीरखाँ और महाराजा जगतसिंह ने मराठों को आमन्त्रित किया, लेकिन इससे दोनों को ही भारी हानि उठानी पड़ी। मानसिंह ने अमीरखाँ को उदयपुर के महाराणा के पास उनकी पुत्री माँगने के लिये भेजा। लेकिन वह जयपुर के महाराजा के भय से उसका प्रस्ताव स्वीकार न कर सके। कृष्णाकुमारी की सगाई जोधपुर के मानसिंह के साथ हुई थी परन्तु जयपुर के राजा जगतसिंह उससे विवाह करना चाहते थे। अत: दोनों के मध्य युद्ध हुआ। कृष्णाकुमारी ने अपने परिवार का सम्मान रखने के लिये जहर खाकर आत्महत्या कर ली। इस पैशाचिक व दुखद घटना से उदयपुर, मारवाड़ और जयपुर के राजघरानों का नाम इतिहास में कलुषित हुआ है। इसके बाद 1818 में मानसिंह ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अधीनता की संधि स्वीकार कर ली।

अपने प्रयत्न में मनुष्य को लगे रहना चाहिए। जीते जी सफलता न भी मिले तो भी हिम्मत क्यों हारना? पुरुषार्थ करने वाले मृत्यु के पश्चात् भी सम्मानित होते हैं।

– श्री गोविन्द

जिज्ञासा का समाधान

– *संकलित*

महाराजा वीर विक्रमदेव जितने नीतिकुशल थे, उतने ही रणकुशल। प्रजा उनके न्याय पर अभिमान करती थी। सभी को इस बात पर अभिमान था कि अन्यायी कोई भी हो-भले ही वह राजपरिवार का सदस्य ही क्यों न हो- महाराज का न्यायदण्ड उसे बख्शेगा नहीं। उनकी नीतिकुशलता के कारण ही पड़ोसी राज्यों से उनके मधुर संबंध थे। यही वजह थी कि व्यापार और वाणिज्य की अबाध प्रक्रिया राज्य को उत्तरोत्तर समृद्ध बना रही थी। महाराज के रणकौशल के सम्मुख विरोधी नतमस्तक होते थे और दस्यु-गिरोह स्वत: ही समर्पण कर देते थे। उनका दरबार नीतिज्ञों, विद्वानों का रत्नकोष था। वहां हर समय सद्ज्ञान की धाराएँ प्रवाहित होती रहती थीं। नितनवीन जिज्ञासाएँ एवं सरल-सुबोध समाधान-यही क्रम था राजदरबार का।

आज तो महाराज स्वयं ही जिज्ञासु थे। उन्होंने अपनी तीन जिज्ञासाएँ दरबार में उपस्थित विद्वानों के सामने प्रकट की- (1) किसी काम को शुरू करने का ठीक समय क्या है? (2) किन लोगों की बात सुननी चाहिए, किन की नहीं? (3) संसार का उत्तम पदार्थ क्या है, जिससे मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ?

पहले सवाल के जवाब में किसी ने कहा कि मनुष्य को काम करने के वास्ते दिनों, महीनों और वर्षो का सूचीपात्र बना लेना चाहिए। किसी ने कहा कि कार्य आरम्भ करने का पहले से ठीक समय निश्चित करना असम्भव है। मनुष्य को चाहिए कि वृथा समय न गँवाए, जो कर्त्तव्य हो, उसे सदा करता रहे। किसी ने कहा कि राजा कितना भी चतुर और सावधान क्यों न हो, वह अकेला प्रत्येक कार्य आरम्भ करने का ठीक समय नहीं जान सकता, उसे बुद्धिमान लोगों की सभा बनाकर उनसे सम्मति लेनी चाहिए।

इस पर दूसरों ने अपनी सम्मति दी कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि उन्हें तुरन्त करना पड़ता है, सभा में उन पर विचार करने का अवकाश नहीं मिल सकता और कार्य करने से पहले उसका फल जानना आवश्यक है। ये सब बातें पंडित-ज्योतिषी आदि जानते हैं, इस कारण उनसे पूछना उचित है।

इसी प्रकार अन्य लोगों ने दूसरे प्रश्न के भी अनेक उत्तर दिए। किसी ने कहा कि राजा के मंत्री अति उत्तम होने चाहिए। कोई बोला पंडित, कोई बोला वैद्य, किसी ने कहा मांत्रिक-तांत्रिक इत्यादि। तीसरे प्रश्न का उत्तर भी इसी प्रकार मिला-कोई कहता था पदार्थ विद्या सबसे उत्तम है, कोई कहता था, शस्त्र विद्या, कोई बतलाता था पूजापाठ।

महाराजा वीर विक्रमदेव को इनमें से कोई भी उत्तर ठीम मालूम न हुआ। अतएव उन्होंने अपनी राजधानी में डौंड़ी पिटवा दी कि जो पुरुष इन तीन सवालों का जवाब देगा, उसे बहुत-सा इनाम दिया जाएगा। अब अनेक बुद्धिमान पुरुष आकर महाराज को इन प्रश्नों के उत्तर देने लगे। उनके उत्तरों में बौद्धिक कुशलता रहती, तर्कप्रवणता रहती, परन्तु साथ ही अनुभवशून्यता भी दिखाई देती। उत्तर देने वालों के मनों में भारी इनाम पाने का लोभ भी था। इनमें से कुछ ऐसे भी थे, जो राजदरबार में स्थान पाना चाहते थे। गहरी जीवन-साधना से उपजा समाधान इनमें से किसी के पास भी न था।

दिन बीतते गए, साथ ही महाराज की जिज्ञासा भी तीव्र से तीव्रतर होती चली गई। हर नए दिन कोई नया व्यक्ति आता। अपनी बात को तरह-तरह की नवीन युक्तियों से पुष्ट करने की चेष्टा करता, परन्तु इन नए-नए तर्को से वीर विक्रमदेव का समाधान न हो पाता।

अपनी इसी चेष्टा में एक दिन उन्हें यह पता चला कि राजधानी से काफी दूर तक जंगल में महर्षि आयुष रहते हैं। उनकी तपसाधना एवं योगविद्या उत्कृष्टतम है।

उनके पास जो ज्ञान है, वह पुस्तकीय नहीं, बल्कि उसका उद्गम उनकी गहरी साधना है। इन तपोधन महर्षि को लोग स्वयं भगवान् का प्रतिनिधि मानते हैं। आसपास की ग्रामीण जनता इन्हें देवपुरुष समझती है। राजा ने सोचा-इन महर्षि से ही अपने प्रश्नों का समाधान पाया जाए।

ये महर्षि कुटिया छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाते थे। उनका मिलना-जुलना भी किन्हीं यशस्वी-वर्चस्वी एवं राजा-महाराजाओं से नहीं बल्कि दीन, दुःखी, पीड़ितजनों से होता था। इसी वजह से महाराज वीर विक्रमदेव ने साधारण वस्त्र पहने और इन महर्षि आयुष की कुटिया के पास जा पहुँचे। उन्होंने देखा कि महर्षि आयुष कुटिया के पास जमीन को फावड़े से खोद रहे हैं। राजा को देखते ही महर्षि ने उन्हें प्रणाम किया और फिर अपना काम करने में जुट गए। महर्षि शरीर से बहुत दुबले-पतले एवं कमजोर थे। वह फावड़ा चलाते-चलाते हाँफने लगते थे।

महाराज ने उनके प्रणाम का प्रत्युत्तर देते हुए कहा-ऋषिवर! मैं आपसे तीन बातें पूछने आया हूँ। पहली बात यह कि मैं ठीक काम करने का ठीक समय किस प्रकार जान सकता हूँ? दूसरी बात यह कि मेरे लिये किन लोगों का संग-साथ करना उचित है? तीसरा प्रश्न यह कि कौन-सा विषय सबसे उत्तम है?

महर्षि आयुष ने कोई उत्तर नहीं दिया, वह आत्मनिमग्न हो खुदाई करते रहे। वीर विक्रमदेव बोले-महर्षि! आप थके मालूम पड़ते हैं, लाइए मुझे फावड़ा दीजिए और आप विश्राम कर लीजिए।

महर्षि आयुष ने राजा को धन्यवाद दिया और फावड़ा उनके हाथ में दे दिया और स्वयं जमीन पर बैठ गए।

महाराज जब दो क्यारियाँ खोद चुके तो रुक गए और उन्होंने फिर से अपने तीनों सवाल दुहराए। महर्षि ने सिर्फ एक शब्द कहा-हाँ और फावड़ा लेने को हाथ बढ़ा दिया। लेकिन विक्रमदेव ने फावड़ा न दिया और वह खोदते ही रहे। यहाँ तक कि साँझ हो गई। साँझ होने पर उन्होंने फावड़ा जमीन पर रख दिया और बोले-ऋषिवर! मैं तो आपसे अपने सवालों के जवाब लेने आया था। यदि आप उत्तर नहीं दे सकते तो मैं लौट जाता हूँ।

तभी महर्षि अचानक बोले-देखो कोई भागा हुआ चला आ रहा है।

विक्रमदेव ने मुँह फेरकर देखा कि एक दाढ़ी वाला मनुष्य जंगल की ओर दौड़ता हुआ आ रहा है। उसने अपने पेट को हाथ से दबा रखा था और हाथ के बीच से रुधिर बह रहा था। राजा के पास पहुँचकर वह बेसुध होकर गिर पड़ा। राजा और महर्षि ने कुर्ता उठाकर देखा तो उसके पेट में बड़ा भारी घाव पाया। राजा ने घाव को पानी से धोकर अपना रूमाल उस पर बाँधा, रुधिर बंद हो गया। कुछ काल उपरांत उसे सुधि आई तो पानी माँगा। राजा ने तुरन्त जल लाकर पिलाया। इतने में सूर्यास्त हो गया। राजा ने महर्षि की सहायता से उस व्यक्ति को कुटिया में लिटा दिया। घायल व्यक्ति को नींद आ गई। विक्रमदेव भी थके होने के कारण सो गए। भोर होने पर जब वह उठे तो घायल ने कहा-राजन! आप मुझे क्षमा कीजिए।

विक्रमदेव बोले-क्षमा कैसी? मैं तो तुम्हें जानता भी नहीं।

उस व्यक्ति ने कहा-आप मुझे नहीं जानते, परन्तु मैं आपको जनता हूँ। आपने मेरे भाई को एक अपराध में दण्ड दिया था, तभी मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं आपसे बदला लूँगा। मैं जानता था कि आप महर्षि से मिलकर संध्या समय अकेले लौटेंगे। इसी उद्देश्य से मैं जंगल में छिप गया था। आपके सिपाहियों ने मुझे पहचान लिया और मुझ पर वार किया। यदि आप मेरा घाव न बाँधते तो मैं अवश्य मर जाता। आपने मुझ पर दया की। मैं आपको मारना चाहता था, परन्तु आपने मेरी जान बचाई। अब भविष्य में मैं आपका सेवक बनकर रहूँगा।

विक्रमदेव बड़े प्रसन्न हुए कि ऐसा प्राणघातक शत्रु सहज में ही मित्र बन गया। उन्होंने अपने राजवैद्य को उसकी दवा करने के लिये बुला भेजा। उसकी सब प्रकार से व्यवस्था करके राजा ने महर्षि से विदा माँगते हुए कहा-ऋषिवर! आपने मेरे प्रश्नों के उत्तर नहीं दिये, कोई बात नहीं। अच्छा प्रणाम, अब हमें आज्ञा दें।

(शेष पृष्ठ 34 पर)

तू क्यों लीली जाळ?

– *मांगसिंह बिशाला*

जळबायरे थळ मांयने, तू क्यों लीली जाळ।
के सींची तने सज्जने, के बूठो आऊ गाळ।।

मरु प्रदेश में जहाँ बरसात बहुत कम होती है, वहाँ भी जाळ अकेली खड़ी है और अपने आपको लीली (हरी) रखकर कठिनाइयों का सामना कर रही है। पौधे के लिये प्राकृतिक परिस्थिति प्रतिकूल होने के बाद भी जाळ सूख नहीं गई है, अपने आपको हरी बनाए हुए है, यह आश्चर्य ही है। कैसी भी विपरीत परिस्थितियाँ हों, उनमें भी अपने दायित्व को निभाते हुए हमें हमारा अस्तित्व बनाए रखने की क्या इससे प्रेरणा नहीं मिलती?

हम जरा अपनी ओर झांकें। हमने क्षत्रिय के घर में जन्म लिया है। क्षत्रिय सदैव जनहित में, राष्ट्रहित में त्याग व बलिदान करने में अग्रणी रहा है। क्या हम भी क्षत्रियोचित आचरण कर रहे हैं? क्या हम में क्षत्रियोचित कार्य करने की शक्ति व सामर्थ्य है? मैं क्षत्रियोचित कार्य करने की क्षमता रखता हूँ या नहीं, ऐसा विचार व चिंतन करने की भी क्षमता रखता हूँ या नहीं? इस संदर्भ में क्या हम सब कुछ गंवा चुके हैं? इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढने का हम कभी ईमानदारी से प्रयास तक नहीं करते। जैसे अधिकांश समाज में ऐसी चेतनाशून्यता जमी बैठी हो। सूखे मरु प्रदेश में भी अपने को हरी-भरी रखने वाली जाळ क्या हमें नहीं कह रही है कि आज की विपरीत परिस्थिति का रोना न रोकर अपना दायित्व निभाने की ऊर्जा संचित करो और कर्तव्य पालन करो।

पू. तनसिंहजी ने ऐसा चिंतन किया और ऐसे प्रश्नों के उत्तर ढूंढे। हाँ, हमें क्षत्रियोचित आचरण करना है और वह तभी होगा जब हम क्षत्रियोचित संस्कारों को अपने जीवन में उतारें। क्षत्रियोचित संस्कारों के साथ हम परस्पर संगठित भी होंगे तो वह शक्ति और सामर्थ्य हमें प्राप्त होगा, जिससे हम हमारा कर्तव्य पालन कर सकें। हमारा चिंतन और मनन जारी रहकर हमें हमारे कर्तव्य पालन की डगर से भटकने नहीं देगा। अभी हमने परम्परागत गंवाया कुछ भी नहीं है, केवल कुसंस्कारों का आवरण आ गया है, जिसको हमें हटाना है और सच्चा क्षत्रिय बनना है। 'संघेशक्ति कलौयुगे' सूत्र की गहराई में उतरकर इस सच्चाई को चरितार्थ करना है ताकि हम स्वर्णिम युग की राह पर बढ सकें।

यह रेगिस्तानी पौधा जाळ अपनी गहरी जड़ों के द्वारा भू-जल को खींचकर स्वयं को जीवित रखता है तथा सामर्थ्यानुसार अन्यों को शीतल छाया प्रदान करने का प्रयास अकाल की स्थिति में भी करता है। अपने को अकेले रेगिस्तानी प्रहरी के रूप में संजोये बैठा है। कभी-कभार चलते हुए कच्चे बादलों ने भले ही इसको नहलाने की चेष्टा की हो पर उसका साहस देखिए कि हर प्रकार के अभाव में भी उसने अपने लीलेपन (हरेपन) में रंच मात्र भी परिवर्तन नहीं आने दिया है। आवश्यकता है इससे सीखने की। बालू रेत की भंवरियों में इस निर्जन अथाह रेगिस्तान का शृंगार बनकर, प्राकृतिक विपदाओं का शिकार बनकर भी आशाओं के पंख फड़फड़ाता है। विपरीत परिस्थितियों के चक्रवात में फसे हुए के लिये कितना प्रेरणादायी है यह।

हम यह मानते हैं कि आज की परिस्थितियाँ हमारे लिये ऐसी अनुकूल नहीं है कि हम कर्तव्य पालन मार्ग पर आरूढ रह सकें। लेकिन हमारे लिये अनुकूलता यह है कि पू. तनसिंहजी हमें क्षात्रधर्म की राह पर आरूढ़ होने के लिये 'श्री क्षत्रिय युवक संघ' रूपी प्रज्वलित दीपक से हमारे अंधकारमय वातावरण को प्रकाशमय वातावरण में परिवर्तित करने की उज्ज्वल राह दे गए हैं। एक विचारधारा, एक भावधारा, अनेकता में एकता के अभ्यास का मार्ग दे गए हैं। इसी संदर्भ में साहित्य की अनमोल विरासत दे गए हैं। तब फिर उस प्राकृतिक पौधे

(शेष पृष्ठ 34 पर)

अपनी बात

संसार में सभी सुख चाहते हैं। सुख क्या है इसको समझने का प्रयास करें। हम कभी-कभी सुखी हुए हैं, इसलिए इसे समझना आसान ही होगा। दुख को समझें। दुखी तो हम बहुत होते हैं इसलिए दुख को समझना भी आसान ही होगा। सुख-दुख दोनों यदि समझ में आ जाएँ तो महासुख भी समझा जा सकता है।

सुख क्या है? कुछ क्षणों के लिये अहंकार का मिट जाना सुख है। आश्चर्य की बात लगती है कि अहंकार का मिट जाना सुख है। हाँ, यही है। जब भी हमने सुख महसूस किया है, उन क्षणों के बारे में सोचें, विचार करें, ध्यान करें। जब भी हमने सुख जाना है, अहंकार मिट गया है, यह कसौटी है। सांझ समय सूरज को देखा डूबते हुए, पहाड़ों पर सूरज की लालिमा छा गई, बादलों पर रंगीन रंग फैल गये, पक्षी अपने नीड़ों को लौटने लगे, सांझ का सौंदर्य, उतरती रात की गरिमा! किसी पहाड़ी एकान्त में हमने साँझ के सूरज को डूबते हुए देखा, हम चकित-भाव विभोर हो उठे। सुख की एक पुलक आई और गई। एक लहर सुख की आई और हम उसमें नहा गये।

यह कैसे हुआ? सूरज का सौंदर्य इतना प्यारा था, आकाश के रंग ऐसे अनूठे थे, पहाड़ों की शान्ति इतनी गहरी थी, पक्षियों का नीड़ों को लौटना, उनकी चहचहाहट, सब ने हमारे हृदय को इस भाँति से तरंगित कर दिया कि हम एक छंद में बंध गए। हम उस पर्वतीय एकान्त में डूबते हुए सांझ के सूरज के साथ, आकाश के साथ एक हो गए। लीन हो गए। उस क्षण में अहंकार विस्मृत हो गया। उस क्षण में हम भूल गए कि मैं हूँ। सूरज का सौंदर्य इतना था कि हम एक क्षण को भूल गए कि मैं हूँ। बादलों के रंग ऐसे थे कि हमें उस क्षण याद ही नहीं रहा कि मैं हूँ। लौटते पक्षी, साँझ का सन्नाटा, पहाड़ का एकान्त, हम भूल गए, हमें याद ही नहीं रहा कि मैं हूँ। बस उस घड़ी एक लहर उठी। उस लहर का नाम है सुख।

फिर जल्दी ही हम वापिस लौट आते हैं क्योंकि सूरज कितनी देर तक सुन्दर रहेगा। यह तो सब कुछ क्षणों का मामला है। अभी था, अभी गया। अभी डूब गया। रात गहरी होने लगी। हम चौंक कर उठ आते हैं। लौटने का समय आ गया। रात का अंधेरा हो रहा है, सांप हो, बिच्छू हो, जंगली जानवर हों, पहाड़ का मौका है। हम वापिस लौट आते हैं। अहंकार फिर अपनी जगह खड़ा हो गया-शंकित, भयभीत है। सुख की जो कुछ क्षणों की झलक मिली थी, वह खो गई।

ऐसे ही सुख मिलता है कभी संगीत को सुनते समय-किसी ने वीणा बजाई और हम तल्लीन हो गए और कहते हैं बड़ा सुख मिला। कोई प्रिय व्यक्ति मिला और साथ बैठकर सांझ समय उगते पहले तारे को देखते रहे और बोले-बड़ा सुख मिला। लेकिन सुख का कोई सम्बन्ध न तो सूरज से है, न साँझ के तारे से, न प्रिय व्यक्ति से, न संगीत से। अगर इसे समझें तो इन सबके बीच हम एक ही बात पाएंगे कि बहाना कोई भी हो, बात एक ही घटती है हमारे भीतर, अहंकार भूल जाता है। हम यदि यह समझ लें तो हम महासुख भी समझ सकेंगे।

महासुख का अर्थ हुआ-अहंकार सदा के लिये ही भूल जाये। भूला सो भूला फिर लौटे ही न। दुख का अर्थ हुआ-अहंकार। जितना ज्यादा अहंकार होता है, उतना ही ज्यादा दुख होगा। अहंकार की मात्रा से दुख की मात्रा मापी जा सकती है। अहंकारी को हम दुखी पाएंगे, निर-अहंकारी को उतना दुखी नहीं पाएंगे।

जरा सोचें, जब भी हमारा अहंकार बहुत सघन होकर हमें पकड़ लेता है कि मैं हूँ, कि मैं कुछ खास हूँ, तो छोटी-छोटी बातें दुख देने लगती हैं। कोई व्यक्ति जो रोज नमस्कार करता था, आज उसने नमस्कार नहीं की, यह बात हमें चुभ जाती है,-अच्छा तो यह अपने को क्या समझने लगा है। इसको मजा चखाकर रहूँगा, इसे बता कर रहूंगा कि मैं कौन हूँ। अहंकार से भर गए।

हम जब भी अहंकार से भर जाते हैं, अड़चन हो

जाती है। हम कभी यदि परदेश गए हैं, या ऐसी जगह गए हैं जहाँ हमें कोई नहीं जानता, वही यात्रा का सुख है। यात्रा का सुख यात्रा में नहीं है, कश्मीर या नेपाल में नहीं है। यात्रा का सुख इस बात में है कि वहाँ हमें कोई जानता नहीं। इसलिए अकड़ने का कोई कारण नहीं है। वहाँ अकड़ने से सार भी क्या है? वहाँ कोई नमस्कार भी नहीं करता तो दुख मानने का कोई कारण नहीं है। वहाँ हम कुछ भी नहीं हैं। वहाँ हम नाकुछ हैं। इसलिए हमें थोड़ा सुख मिलता है। यात्रा का यही सुख है कि थोड़ी देर के लिये नाकुछ हो जाते हैं। इस बात को जो भली प्रकार समझ ले, वे अपनी जगह पर ही नाकुछ हो जाते हैं। कहीं यात्रा पर जाने की जरूरत ही क्या है? घर बैठे-बैठे ही नाकुछ हो जाते हैं।

अहं में मिलता है दुख। अहंकार कांटा है। अहंकार पीड़ा है। लेकिन हम कभी सोचते नहीं इस बात को। हमारे अब तक के सभी सुखों का निचोड़ निकालें, उन सबका मूल बिन्दू खोजें। जब भी सुख मिला तो किसी घड़ी में, तब एक बात अनिवार्य रूपेण घटित है,- अहंकार मिट जाता है तो फिर अहंकार का मिट जाना ही सुख है। मैं सुखी हूँ, ऐसा वाक्य भाषा की दृष्टि से सही है, अनुभव की दृष्टि से सही नहीं है, क्योंकि जहाँ सुख होता है वहाँ मैं नहीं होता और मैं होता है तो सुख नहीं होता। मैं का नहीं होना ही यदि हमारा स्वभाव बन जाए तो उसी का नाम महासुख है। हमारे खेल मेरी भेड़ खो गई, चल रे बुद्धू आदि हमारे उस अहंकार को मिटाने के ही साधन हैं। सहगीतों में झूम-झूम कर नाचते समय हमारा मैं विस्मृत हो गया है। खेलों में रम गए, तल्लीनता आ गई, मैं कहाँ रहा? इस निर-अहंकारिता के समय को बढाते रहें और महासुख की यात्रा करें। निरन्तर अभ्यास इस समय को बढाने का साधन है।

पृष्ठ 31 का शेष

जिज्ञासा का समाधान

महर्षि आयुष मुस्कराते हुए बोले-राजन आपके प्रश्नों के उत्तर मिल गए। विक्रमदेव बोले-मैं कुछ समझा नहीं।

महर्षि ने कहा-देखो, यदि कल तुम मुझे थका देख सहज सौजन्यवश धरती न खोदते और शीघ्र लौट जाते तो वह मनुष्य राह में तुम्हें कष्ट देता और तुम पछताते कि महर्षि के पास क्यों बेकार में गया। इसलिए विदित हुआ कि उत्तम समय वह था, जब तुम खुदाई कर रहे थे और उचित मनुष्य मैं था, अत: मेरा भला करना तुम्हारा परम कर्त्तव्य था। उसके बाद जब यह मनुष्य आया, तो उचित समय वह था, जब तुम उसके घाव धो रहे थे और वह उचित मनुष्य था तथा उसके घाव को बंद करना तुम्हारा कर्त्तव्य था।

महर्षि आयुष ने अपनी बात का सारांश बताते हुए कहा कि सदैव वर्तमान काल ही उचित समय है; क्योंकि केवल वर्तमान पर ही मनुष्य का अधिकार है। जो मनुष्य मिल जाए, वही उचित मनुष्य है। कौन जानता है, पल में क्या हो जाए और कोई मिले अथवा न मिले। सर्वोत्तम कर्त्तव्य परोपकार है, क्योंकि उपकार के लिये ही मनुष्य इस मृत्युलोक में शरीर धारण करता है।

पृष्ठ 32 का शेष

तू क्यों लीली जाळ?

की परिस्थिति जैसी विपरीतता हमारी कहाँ है? कहाँ रही उस साधक की सी स्थिति जिसका साध्य व साधन झमेले में हो। उन्होंने हमारे शाश्वत साध्य का परिचय करवाया है। उस साध्य तक पहुँचने के लिये उपयुक्त साधना प्रणाली प्रदान की है।

तो फिर अब देरी क्यों? क्यों नहीं हम सब इस प्रज्वलित यज्ञ कुण्ड में हमारी आहुति देने पहुँचें। समय है हमारे उज्ज्वल इतिहास को दोहराने का। शक्ति व सामर्थ्य अर्जित कर क्षत्रियोचित कर्म करना है। पर ऐसा तभी हो सकेगा, जब हम पू. तनसिंहजी द्वारा दी गई सामुहिक संस्कारमयी कर्म प्रणाली को अंगीकार करेंगे, श्री क्षत्रिय युवक संघ को समर्पित भाव से अपनाएंगे। अपने मन मंदिर में पू. तनसिंहजी को बैठाकर प्रभु से अर्चना करेंगे-

क्षत्रिय कुल में प्रभु जन्म दिया तो क्षत्रिय के हित में जीवन बिताऊँ
धर्म के कंटकाकीर्ण मग पर धीरज से मैं कदम बढाऊँ।।

✲